विशेषांक

# आधी दुनिया

वर्ष-25, अंक -3, जुलाई - सितंबर 2019 महिला शिक्षण सामग्री

## नूतन स्मृति व्याख्यान

- जेन्डर संवेदनशीलता और महिलाओं का सशक्तीकरण
- ज्ञान-स्वराज से सवस्थ्य संवर्द्धन
- नारी आन्दोलन और राष्ट्र
- विकास की अंधी दौड़ : महिलाओं पर बढ़ती हिंसा

# आधी दुनिया

वर्ष-25, अंक -3, जुलाई - सितबंर 2019


# नूतन स्मृति व्याख्यान
## विशेषांक


संवाद

104/ए, उर्मिला इन्कलेव,
पीस रोड लालपुर, रांची

संपादक
**रोज केरकेट्टा**

संपादक मंडल
**साल्गे मार्डी**
**सुनील मिंज**
**श्रावणी**
**शशि बारला**

कलापक्ष
**इंडिजिनोग्राफिक्स**

संपादन कार्यालय
**संवाद**
104/ए, उर्मिला इन्क्लेव
पीस रोड, लालपुर
रांची - 834001 (झारखंड)
फोन - 0651-2530356
E-mail : **sarjomsamvad@gmail.com**
Website : **www.samvad.net**

रोज केरकेट्टा द्वारा संपादित एवं प्रकाशित तथा कैलाश पेपर कन्वर्सन, रांची द्वारा मुद्रित
सीमित प्रसार

# संपादकीय

वर्ष 2012 में स्थापित 'देशज मार्ग ट्रस्ट' की ओर से नूतन (जन्मतिथि 15 सितंबर, 1957: पुण्यतिथि 2 मई, 2012) की स्मृति में देश की किसी एक महिला, जो स्त्री शक्ति को जगाने, संगठित एवं विकसित करने में सक्रिय है, को प्रतिवर्ष 'प्रभावती सम्मान' से अलंकृत किया जाता है। साथ ही बिहार आंदोलन की इस प्रखर नेत्री की याद को स्थायी बनाये रखने के उद्देश्य से प्रतिवर्ष नूतन स्मृति व्याख्यान का आयोजन किया जाता है।

'प्रभावती सम्मान' और 'स्मृति व्याख्यान' इन दोनों आयोजनों के निर्णय एवं क्रियान्वयन के लिए महिलाओं की एक टीम बनी हुई है। इस टीम में हैं - उर्मिला कर्ण, पूनम शरण, उर्मिला कुमारी, पुष्पा प्रियदर्शी, पूनम रंजन, नीलू (सभी पटना), कनक, किरण, श्रावणी (सभी रांची), और मणिमाला (दिल्ली)।

इस टीम ने वर्ष 2013 रजिया पटेल (पुणे), 2014 रोज केरकेट्टा (रांची), 2016 चांद बहन (भागलपुर) और 2018 मालंच घोष (रांची) को प्रभावती सम्मान से सम्मानित किया।

'नूतन स्मृति व्याख्यान' के तहत अभी तक कुल पांच व्याख्यान हुए हैं। प्रथम नूतन स्मृति व्याख्यान 15 सितम्बर, 2013 को गांधी संग्रहालय, पटना में अमरनाथ भाई (वाराणसी) ने दिया था। पटना विश्वविद्यालय की प्रोफेसर भारती एस कुमार ने दूसरा व्याख्यान 14 सितम्बर, 2014 को जेपी निवास, महिला चरखा समिति, कदमकुआं, पटना में दिया था। व्याख्यान का विषय था - 'जेंडर संवेदनशीलता और महिला सशक्तीकरण'। जेएनयू की प्रो. रितुप्रिया ने तीसरा व्याख्यान 3 मई, 2015 को जेपी निवास, महिला चरखा समिति, कदमकुआं, पटना में प्रस्तुत किया था। व्याख्यान का विषय था – 'ज्ञान-स्वराज से स्वास्थ्य संवर्द्धन'। चौथा व्याख्यान प्रो. इलीना सेन (मुंबई) ने जेपी निवास, पटना में दिया। वर्ष 2016 या 2017 में आयोजित उस व्याख्यान का विषय था – 'नारी आन्दोलन और राष्ट्र'। कमला भसीन, (नई दिल्ली) ने पांचवां व्याख्यान 9 अक्टूबर 2018 को सोशल डेवलप सेंटर, रांची में दिया। विषय था – 'विकास की अंधी दौड़ और महिलाओं पर बढ़ रही हिंसा'।

+++

भारत में सरकार नामक प्रशासन की जो मशीनरी है, उसके कलपुर्जे ब्रिटिशकालीन विचारों से पूर्ण हैं। ब्रिटिश शासक और बड़े व्यापारी थे। उन्हीं से वैसा ही प्रशिक्षण प्राप्त आज के अफसर हैं। उनके विचारों, कार्यशैली और कार्य में वही स्वामित्व है। उनके बीच जनता उनके अधीनस्थ है। ये कभी नहीं चाहेंगे कि उनके अधीनस्थ्य उनकी बराबरी में आएं। इसलिए 2001 से सरकारी एजेन्डा में 'स्त्री सशक्तीकरण' होने के बाद भी न तो परंपरागत संस्कार, कि स्त्री जन्म से ही दोयम दर्जे की है, टूटा न अन्य लाभ मिले। महिलाओं की मांग कानून बनकर आ रही है। कार्यस्थल पर महिला हिंसा सिर्फ प्रतिरोध का शब्द बन कर रह जाती है। क्योंकि इस तरह के केस में महिला की अनदेखी की जाती है।

भारती एस. कुमार ने महिला सशक्तीकरण के लिए सरकार और समाज में जेंडर संवेदनशीलता और संवेदीकरण की आवश्यकता और उसके विभिन्न पहलुओं को रेखांकित किया है। जेंडर संवेदनशीलता का अर्थ इन सवालों के प्रति सही समझ पैदा करना है कि औरतें समाज में अधीनस्थ क्यों है, हिंसा से पीड़ित क्यों है? और जेंडर संवेदीकरण का तात्पर्य है समाज में औरत की आजादी, क्षमता और समानता के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक सरोकारों और चेतना को बढ़ाने वाले व्यवहारों में परिवर्तन इस लिहाज से आज जेंडर संवेदनशीलता 'सरकारी एजेंडा' होना चाहिए। इसके तहत सारे नीति-निर्धारकों, कार्यक्रम बनाने वालों, क्रियान्वयन करनेवालों, कानून बनाने और लागू करने वाली मशीनरी सबका संवेदीकरण जरूरी है। अन्यथा महिला सशक्तीकरण के लाख प्रयत्न भी बेकार जाएंगे।

रितुप्रिया ने आधुनिक 'एलोपैथी' चिकित्सा का विश्लेषण करने के साथ यह बताया है कि एलोपैथी आज सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा पद्धति माना जा रहा है। उन्होंने हमारे बीच के चिकित्सा के लोक ज्ञान, आयुर्वेद, होमियापैथी, जड़ी-बूटी द्वारा इलाज को भी उपयोगी बताया है, जो प्राचीन काल से हमारे बीच रहा है। अब उन्हें हेय दृष्टि से देखा जा रहा है। प्रजनन को अस्पताल के साथ जोड़कर प्रसव अस्पताल में कराया जा रहा है। इन्हें प्रोत्साहन देने के लिए प्रति प्रसव दो हजार रुपये दिए जा रहे हैं। प्राचीनकाल से हमारे बीच दाइयां काम करती आ रही हैं। वे स्वाभाविक रूप से कई दवाइयां जानती रही हैं। जैसे गर्भाशय उलटा है तो मालिश कर सीधा करना, बच्चा रिकेटिक है तो सेंधा नमक और सरसों

तेल से मालिश करना, आदि। इन सब में कम खर्च या नाम मात्र के खर्च हैं। हम जो सामाजिक लोग हैं हमें अपने प्राचीन लोक ज्ञान को हमेशा साथ रखना और साथ लेकर चलना होगा। एलोपैथी में 'प्रतिक्रिया' है, लोकज्ञान में नहीं।

सरकार एलोपैथी चिकित्सा को प्रोत्साहन इसलिए भी देती है क्योंकि जंगल नष्ट हो रहे हैं। जड़ी-बूटियां अप्राप्य हो गई हैं। कई चर्चित रोगों का इलाज लोक ज्ञान के तहत होता रहा है। लेकिन उसे अस्वीकार किया जाता है क्योंकि उन दवाओं का पेटेंट नहीं है। पेटेंट के लिए इलाजों को सफल प्रेक्टिस की सूची मांगी जाती है जो भारत में असंभव है।

इलीना सेन ने अपने लंबे अनुभव द्वारा प्राप्त 'नारी आंदोलन और राष्ट्र' की बात सामने रखी है। उन्होंने कहा है कि हम नागरिक अपने-अपने घरों, गांवों और क्षेत्र में शांतिपूर्ण ढंग से रहना चाहते हैं। पर हमारे जल, जंगल को कॉरपोरेट उद्योगपतियों, व्यावसायियों को देकर सरकार दोहरा लाभ कमाना चाहती है। इससे लोग आन्दोलित होते हैं। तब सरकार प्रभुत्व रखने के लिए सेना भेजती है। अपरिमित अधिकार से लैस सेना पुरुष, स्त्री और बच्चों पर कहर ढाती है। उनका जीने का अधिकार छीनती है। उत्तर-पूर्वी भारत, मध्य भारत में लोग अपने राष्ट्रवाद को बचाए रखना चाहते हैं, समस्या अब तक अनसुलझा है।

उनका कहना है हमारा देश लोकतांत्रिक है, धर्मतांत्रिक नहीं। पर दिल्ली के ही पड़ोसी राज्यों में खाप पंचायतों द्वारा युवक-युवतियों के अधिकारों के प्रति असहनशील होकर अनेक घटनाओं को अंजाम दिया गया। पुलिस और प्रशासन इसे रोकने को तत्पर नहीं रहीं।

इसी तरह तेभागा आंदोलन में स्त्रियों ने बराबरी में भाग लिया। उन्होंने घरेलू स्थिति में भी पुरुषों के नियंत्रण में रहने से इन्कार किया। उन्होंने समान अधिकार के लिए संघर्ष किया। नारी के हित में कानून की दीर्घकालिक अवहेलना के विरुद्ध मथुरा काण्ड से लेकर दहेज हत्याकाण्ड तक महाराष्ट्र, का दलित नारी आन्दोलन, आबादी नियंत्रण को लेकर नारियों को गिनीपिग बना देने के विरुद्ध संघर्ष की चर्चा के बाद इलीना सेन कहती हैं कि सारे आंदोलनों को लेकर कानून अवश्य बनें, पर इससे राष्ट्र के चरित्र में कोई बदलाव नहीं आया है। बेशक थोड़ी-सी संभ्रात, शिक्षित महिलाएं जागरूक हुई हैं।

हां, कुछ कानूनी मांगों को सरकार ने मान ली है, जैसे क्लारा जेटकिन

ने 8 मार्च को 'श्रमिक नारी दिवस' के रूप में मनाने की बात की। सरकार ने उनके आठ घंटे काम को स्वीकार कर लिया। पर सिर्फ आठ घंटे काम कहीं नहीं है। नारियों को इसके बाद भी बहुत सारे काम करने पड़ते हैं। 2001 से राष्ट्रीय मान्यता दिये जाने के बाद राष्ट्रीयता का लबादा ओढ़कर पुरुष 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस' पर भाषण देने लगे।

आज महंगाई चरम सीमा पर है। मुद्रस्फीति लगातार हो रही है। वैसे, सरकार महिलाओं और बच्चों के लिए कुछ अनुदान राशि दे रही है।

इन जुड़े तथ्यों का उल्लेख करते हुए कमला भसीन ने विकास की आड़ में बढ़ती महिला-हिंसा की ओर हमारा ध्यान खींचा है। उन्होंने कहा - व्यवस्था को बदलने के लिए हमने इन्दिरा गांधी को हटा दिया। पर उनके बाद आने वाले लोगों में भी खून की लत लगी। असल में, व्यवस्था को बदलने के लिए अपने को बदलना और बाहर को बदलना बहुत जरूरी है।

जो आदिवासियों का था आज वह कारपोरेट का है। वे आदिवासियों के जंगल, घर और आंगन तक से अनगिनत करोड़ों की संपत्ति निकाल कर ले जा रहे हैं। शिक्षक, डॉक्टर और वकील कभी नॉवेल प्राइज के हकदार थे आज सबसे बड़े मुनाफाखोर हो गए हैं। आदिवासी, छोटे किसान पर बड़ी मार पड़ रही है। कारपोरेट अपनी गतिविधियों से पृथ्वी का तापमान बढ़ा रहे हैं। हवा प्रदूषित कर रहे हैं। पूंजीवाद को हवा दे रहे हैं। इससे पुरुष-स्त्री सभी प्रभावित हो रहे हैं। पर स्त्री दोहरा मार खाती है। लेकिन पूंजीवाद के एजेन्टों को इसकी चिंता नहीं। उन्होंने बड़ा उदाहरण दिया कि मोदी को सब पता था कि माल्या कितने हजार करोड़ लेकर देश छोड़ रहा है। पर गरीब दस-बीस हजार लोन के लिए जेल जाता है। पूंजीवाद ने पितृसत्ता का खूबसूरत इस्तेमाल किया है।

मीडिया पूंजीवाद का सबल जरिया है। शराब (विदेशी) जो आज अपराध की जड़ है को विज्ञापन के द्वारा महिमा मंडित किया जा रहा है।

कमला भसीन ने आह्वान किया कि संविधान की रक्षा और पितृसत्ता के विरुद्ध जंग में पुरुष शामिल हों। क्योंकि पितृसत्ता उनके द्वारा बनाई गई है। धर्म उनके द्वारा है। इसलिए स्त्री को मंदिरों में प्रवेश करने से रोका जाता है। माहवारी प्रजनन का महत्वपूर्ण अंश है। इसके बिना न स्त्री न पुरुष पैदा होते हैं। मानवाधिकार भी घोषणा करता है कि सभी स्त्री और पुरुष बराबर हैं। हमें इसका सम्मान करना है।

'नूतन स्मृति व्याख्यान' के तहत अभी तक कुल पांच व्याख्यान हुए हैं। 'प्रथम व्याख्यान' की सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी। इसलिए चार व्याख्यानों का संकलन 'आधी दुनिया' के इस अंक में प्रकाशित किया जा रहा है। हमें यकीन है कि इस व्याख्यानमाला के तहत व्यक्त विचारों से महिलाओं से जुड़े मुद्दों को समझने के लिए न केवल एक नई दृष्टि मिलेगी, बल्कि सक्रिय जमातों को नई दिशा भी मिलेगी।

**- रोज केरकेट्टा**

# अनुक्रम


| | |
|---|---|
| जेन्डर संवेदनशीलता और महिलाओं का सशक्तीकरण | 11 |
| ज्ञान-स्वराज से स्वास्थ्य संवर्द्धन | 17 |
| नारी आन्दोलन और राष्ट्र | 45 |
| विकास की अंधी दौड़ : महिलाओं पर बढ़ती हिंसा | 67 |

द्वितीय नूतन स्मृति व्याख्यान
(14-09-2014)

# जेन्डर संवेदनशीलता और महिला सशक्तीकरण

**प्रो. भारती एस. कुमार**

महिला सशक्तीकरण और जेन्डर संवेदनशीलता (Sensitization)21वीं सदी के दो अक्सर सुने जाने वाले शब्द हैं जो अकादमिक बहसों, संगोष्ठियों और कक्षाओं में और लेखों में सुनाई पड़ते हैं। वर्ष 2001 से महिला सशक्तीकरण सरकारी एजेन्डा बन गया, जब उस वर्ष को 'महिला सशक्तीकरण वर्ष' घोषित किया गया। महिला सशक्तीकरण यानी देश के विकास के प्रत्येक आयाम - राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, एवं सांस्कृतिक - में महिलाओं की स्वतंत्र एवं निर्णयकारी भागीदारी और भूमिका।

सुनने में ये शब्द बहुत उत्साहवर्धक हैं। परन्तु जब कॉलेज जाती लड़कियों का रास्ता रोका जाता है; बस, ट्रेन और ऑफिस में लड़कियों और औरतों के साथ बलात्कार हो; अपनी पसंद के जीवनसाथी को चुनने पर हत्या की जाती हो; देश की 70% महिलाएं असंगठित क्षेत्र में कम मजदूरी पर काम कर रहीं हों; जब पुलिस, न्यायपालिका और प्रशासनिक क्षेत्रों में महिलाएं जेन्डर विभेद झेल रही हों और जब भ्रूण-हत्या के आँकड़े देश के लिंग-अनुपात को अभी भी विषम (2011 में लिंगानुपात 940) बनाये हुए हों, तो महिला सशक्तीकरण का लक्ष्य कैसे पूरा हो सकता है?

इसलिए जेन्डर संवेदीकरण की जरूरत है क्योंकि पितृसत्तात्मक मूल्य

और व्यवस्था को तोड़ने और स्त्री-पुरुष की समानता को जनमानस में बैठाने के लिए एक अन्य प्रकार के वैचारिक अस्त्रों के व्यापक उपयोग से स्त्री की सुरक्षा, समानता और सम्मान का एक नया परिवेश बन सकता है।

जेन्डर संवेदनशीलता का सीधा अर्थ इस तथ्य को समझना है कि औरतें अधिकांश समाजों में अधीनस्थ क्यों हैं, जेन्डर भेदभाव और हिंसा से पीड़ित क्यों हैं? स्त्री-पुरुष की आवश्यकताओं की चिन्ता (Concern) और लैंगिकता के आधार पर श्रम विभाजन क्यों है?

जेन्डर संवेदीकरण का तात्पर्य समाज के जेन्डर समता के प्रति जेन्डर समानता के सरोकारों और चेतनता को बढ़ाने वाले व्यवहारों में परिर्वतन है। "Gender Sensitization refers to the modification of behaviour by raising awareness of gender concerns" (Soma Bhowmick, **Gender Sensitization & Police**) अर्थात् औरतों के प्रति समतावादी सोच उत्पन्न करने, उनसे मानव सदृश व्यवहार और समाज में जेन्डर विभेद को समाप्त करने के लिए समाज को संवेदनशील बनाना।

जेन्डर संवेदीकरण की आवश्यकता क्यों है? इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करना होगा। जेन्डर संवेदीकरण वह प्रक्रिया है जिससे स्त्री और पुरुष दोनों ही जेन्डर संवेदनशील बनते हैं और असमान स्त्री-पुरुष संबंधों में परिवर्तन लाने की दक्षता हासिल करते हैं। 'The Aim of Gender Sensitization is to make people aware of the power relations between men and women that exists in society." चूँकि असमानता महिला सशक्तीकरण में सबसे बड़ी बाधा है- इसलिए जेन्डर संवेदीकरण में इस प्रक्रिया के द्वारा लोगों को समाज में व्याप्त जेन्डर संबंधी समस्याओं से परिचित कराना, औरतों को अधिक से अधिक नीति निर्माणकारी प्रक्रिया में भाग लेने की सुविधा प्रदान करना है, ताकि उनकी पहुँच स्वामित्व पर हो एवं संसाधनों पर नियंत्रण हो तब ही असमान जेन्डर संबंधों में परिवर्तन आ सकता है।

अर्थात् जेन्डर संवेदीकरण की आवश्यकता अनेकों कारणों से है।

भारतीय समाज में व्याप्त पितृसत्ता, जेन्डर विभेद, हिंसा एवं जेन्डर गैप को समझने के लिए; पितृसत्ता से उत्पन्न असमान जेन्डर संबंधों को चुनौती देने के लिए; नीतियों के क्रियान्वयन और उसके स्त्री और पुरुष पर प्रभाव को समझने के लिए; नीतिगत एप्रोच में जेन्डर मेनस्ट्रीमिंग की आवश्यकता पर बल देने के लिए; जेन्डर समता एवं जेन्डर निष्पक्षता (Equity) एवं महिला

सशक्तीकरण के विभिन्न लक्ष्यों और आयामों को पूरा करने के लिए समाज में जेन्डर संवेदीकरण की प्रक्रिया नितान्त आवश्यक है।

अच्छा होगा कि हम इस प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं को विस्तार से समझ लें। जेन्डर संवेदीकरण की प्रक्रिया चार स्तरों (Levels) से गुजरती है;

(क) नीतिगत स्तर से (Policy Level)

(ख) क्रियान्वयन के स्तर से (Implementation Level)

(ग) सेवा प्रदाता के स्तर से (Service Provider Level)

(घ) समुदाय के स्तर से (Community Level)

इस प्रकार आज जेन्डर संवेदनशीलता सरकारी एजेन्डा है। इसलिए सारे व्यक्तियों, नीति निर्धारकों, कार्यक्रम बनानेवालों, क्रियान्वयन करनेवालों, विकासात्मक एजेंसियों, कानून लागू करने वाली मशीनरी, न्यायालयों और गैर-सरकारी संगठनों (NGO) सभी का संवेदीकरण होना चाहिए।

अन्य तरीकों में शामिल हैं -

(क) जेन्डर मुद्दों और औरतों के मानव अधिकारों के प्रति सामाजिक जागरूकता को बढ़ावा,

(ख) जेन्डर शिक्षा और मानव अधिकार को शामिल करने के लिए पाठ्यक्रम और शिक्षा सामग्री का पुनरावलोकन,

(ग) सभी सार्वजनिक और वैधानिक यंत्रों (Instruments) से औरतों की प्रतिष्ठा के खिलाफ दिये गये अपमानजनक उद्‌रणों को हटाना।

(घ) महिला समानता और सशक्तीकरण से संबंधित सभी सामाजिक संदेशों के सम्प्रेषण के लिए मास मीडिया के विभिन्न रूपों का इस्तेमाल (K.R. Gupta, **Gender, Problem and Politics**)।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि जेन्डर संवेदीकरण और महिलाओं के सशक्तीकरण का अन्योन्याश्रित संबंध है। यह इस व्यापक अर्थ में है कि जब तक समाज विभिन्न एजेन्सियों, प्रचार माध्यमों, दंड और उदाहरणों के जरिये स्त्री-पुरुष समानता और न्यायोचित समता का विचार ग्राह्य एवं स्वीकृत नहीं करेगा, तब तक महिला सशक्तीकरण के लाख प्रयत्न बेकार जायेंगे।

विशाखा गाइडलाइन (13 अगस्त, 1997) के निर्णय के पश्चात् कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न से सुरक्षा के निर्देश सभी नियोक्ताओं को दिये

गये। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली (J.N.U.) के कुलपति ने त्वरित आदेश देते हुए 5 सितम्बर, 1997 को प्रो॰ करुणा चनाना की अध्यक्षता में यौन उत्पीड़न पर एक वर्किंग ग्रुप बनाया, जिसका कार्य, कार्यस्थल पर उत्पीड़न, जेन्डर विभेद, नौकरी पर उत्पीड़न और अन्य उत्पीड़नों की शिकायतों पर कार्रवाई करवाना था, क्योंकि 'Gender sensitization against sexual harassment in campuses is a sine quo non (अनिवार्य शर्त्त) of peaceful and respectful living.' सचमुच, यदि स्कूल-कॉलेजों में लड़कियों, महिलाओं को जेन्डर भेद-भाव और मानसिक या शारीरिक उत्पीड़न झेलना पड़ रहा है, तो हम कैसे अपेक्षा करेंगे कि स्त्रियां शांतिपूर्ण वातावरण में अपना मनपंसद या जोखिम भरा जॉब कर सकेंगी।

दिसम्बर 16, 2012 के 'निर्भया कांड' ने स्त्रियों की सुरक्षा और जेन्डर संवेदीकरण के प्रश्न को गंभीरता से उठा दिया। इस घटना पर जो गैर-जिम्मेदाराना वक्तव्य आये वह पितृसत्तात्मक सोच से ग्रसित थे। जैसे, 'लड़कियाँ शालीन कपड़े पहने', 'रात में घर से बाहर क्यों निकलती है?', 'उन्हें लक्ष्मण रेखा से बँधे रहना चाहिए' इत्यादि।

इस कांड के पश्चात् जनवरी 2013 में यू.जी.सी. के चेयरमैन ने सभी विश्वविद्यालयों में जेन्डर सेन्सीटाइजेशन केन्द्रों के गठन के निर्देश दिये। परन्तु डेढ़ साल से ज्यादा होने पर भी ये केन्द्र गम्भीरता से अपना दायित्व नहीं निभा पाये हैं और न ही इन्हें प्रशासनिक सपोर्ट मिल रही है। पटना विश्वविद्यालय में जेन्डर सेन्सीटाइजेशन केन्द्र का यही हश्र हो रहा है।

हाल ही में 25 अगस्त, 2014 की घटना पर हिन्दुस्तान टाइम्स का सम्पादकीय ('Just an addition to the statistics' dated 28th August, 2014) रोहतक की दो छात्राओं निकिता दुहन और मधु द्वारा जहर खाकर आत्महत्या पर लिया गया। ये वो लड़कियाँ थीं, जो विदेश में उच्च शिक्षा प्राप्त करने और अपने पैरों पर खड़े होने के सपने बुन रही थीं। परन्तु, कुछ युवकों द्वारा लगातार तंग करने, माता-पिता की लाचारी और समाज की संवेदनहीनता के कारण वे अपराध-बोध से ग्रसित और असहाय महसूस कर रही थीं। इसके प्रत्यक्षदर्शी भी अपना पल्ला झाड़ रहे थे। इन लड़कियों को विश्वास नहीं था कि उनका परिवार, सरकारी तंत्र और समाज उन्हें इस ट्रॉमा (मानसिक आघात) से मुक्त करेगा। तब मजबूर होकर उन्होंने अपनी इहलीला समाप्त कर ली।

सम्पादक की यह टिप्पणी आज की स्थिति की गम्भीरता दर्शाती है - 'Their cases are not stray one; there are scores of such cases across the country and most of them go unreported because, society is just so unresponsive to such attacks'। इतना ही नहीं, वे लोग जो इस तरह के कार्यों में लिप्त होते हैं, तब और भी दुस्साहसी हो जाते हैं जब बहुत से राजनीतिज्ञ बिना सोचे-समझे यौन हमलों पर गैर-जिम्मेदाराना बयान देते हैं और यहाँ तक कि इसे सिर्फ 'गलती' कह देते हैं।

इसी तरह का बयान अर्थमंत्री अरूण जेटली का राज्य पर्यटन मंत्रियों की बैठक (21 अगस्त, 2014) में दिया गया, जो संवेदनहीनता की इन्तहा है। दिल्ली में बलात्कार की एक 'छोटी सी घटना' दुनिया भर में प्रचारित होने से वैश्विक पर्यटन के रूप में भारत को करोड़ों का नुकसान हुआ है। इसकी कड़ी आलोचना होने पर जेटली का स्पष्टीकरण आया - 'मुझे खेद है कि मेरे बयान या उसमें इस्तेमाल किये गये कुछ शब्दों को असंवेदनशील समझा गया। मगर मेरा ऐसा इरादा कतई नहीं था।'

क्या शब्दों का इस्तेमाल या चयन आपके विचारों की बानगी नहीं होता?

ये सब महिला सशक्तीकरण के रास्ते में बाधक हैं।

रघु रमन (विशेषज्ञ आर्थिक सुरक्षा) ने अपने एक लेख (14 अगस्त 2014, हिन्दुस्तान) में महिलाओं की सुरक्षा के प्रति संवेदनशीलता को देश के विकास के आर्थिक पहलुओं से जोड़ा है। उनके शब्दों में, 'महिलाओं की आत्मनिर्भरता का रास्ता तब ध्वस्त हो जाता है, जब उनके साथ घटी घटनाओं का सदमा देश के सुदूर इलाकों तक फैल जाता है।'

'किसी भी देश के आर्थिक विकास के महत्वपूर्ण संकेतकों में से एक महत्वपूर्ण संकेतक हैं - वहाँ के कार्यबल में औरतों की हिस्सेदारी।'

हमारे कुल कार्यबल में महिलाओं की हिस्सेदारी सिर्फ 29 फीसद है। इसके अलावा इनमें से आधी से अधिक महिलाएं खेती-किसानी से जुड़ी हैं जो औद्योगीकरण के चलते तेजी से घटती जा रही है।

रघु रमन के अनुसार कृषि-क्षेत्र में महिलाओं की घटती तादाद को शहरी नौकरियों में उनकी भागीदारी बढ़ाकर संतुलित करना चाहिए। मगर ऐसा नहीं हो पा रहा है। इसके प्रमुख कारणों में एक है महिला सुरक्षा।

बदकिस्मती से देश में महिलाओं की सुरक्षा की स्थिति, खास तौर पर उभरते हुए बड़े शहरों में, इस मॉडल को विफल कर रही है। सुदूर छोटे शहर के रूढ़िवादी परिवार की लड़की सारी सामाजिक आर्थिक बाधाओं को पार कर पुरुषों के वर्चस्व वाले क्षेत्रों - एयरलाइन, बी.पी.ओ. व रीटेल से जुड़कर उन करोड़ों लड़कियों के लिये रास्ता बनाती हैं, जो दूर-दराज के इलाकों में पढ़ रही हैं। लेकिन यह मोर्चा और आर्थिक निर्भरता का रास्ता तब तहस-नहस हो जाता है जब महिलाओं से जुड़ी शर्मनाक घटनाएं घटती हैं और इनसे देश के सुदूर इलाके तक सदमे में आ जाते हैं।

सुरक्षा कारणों से कार्यबल का हिस्सा बनने के अवसर खो देनेवाली हर लड़की दरअसल आर्थिक जिम्मेदारी न उठाने देने के कारण उन तमाम प्रभावों को डालने से वंचित रह जाती है जो वह अपने परिवार और संतानों पर डाल सकती थी। और, यह सब इसलिए हुआ क्योंकि ये महिलाओं के खिलाफ अपराध से जुड़े हुए हैं। इनका समाधान ढूंढने से पहले इसके आर्थिक असर के बारे में सोचा नहीं गया।

ये कुछ पहलू हैं जो प्रमाणित करते हैं कि बिना जेन्डर संवेदनशीलता के स्त्री का सशक्तीकरण नहीं हो सकता और न समाज का संतुलित विकास हो सकता है। ■

तृतीय नूतन स्मृति व्याख्यान
(03-05-2015)

# ज्ञान-स्वराज से स्वास्थ्य संवर्द्धन

**प्रो. रितुप्रिया**

उन्नीस सौ बयासी (1982) में एमबीबीएस की पढ़ाई पूरी करने पर मेरे मन में सवाल था कि अपने समाज में मेरी डाक्टरी की क्या भूमिका है? डाक्टरी ज्ञान द्वारा हमारे सामाजिक व आर्थिक परिवेश में स्वास्थ्य संवर्द्धन की सम्भावना से जुड़े इस प्रश्न का एक पहलू था - गरीबी और कुपोषण। डाक्टरी सेवा-व्यवस्था की कमियों-गड़बड़ियों ने दूसरा पहलू खड़ा किया था। मैंने अपनी भूमिका ढूँढते हुए पहले कुछ ग्रामीण इलाकों में व शहरी बस्तियों में कार्यरत संस्थाओं, कार्यकर्ताओं व डाक्टरों के साथ घूमा, वैकल्पिक विकास और स्वास्थ्य के कार्यक्रम देखने-समझने का प्रयास किया। उनसे बहुत कुछ सीखने को मिला। परन्तु इन समूहों को 5-10 साल काम करते हो चुके थे और उनकी कार्यनीति की सीमाएं भी दिखने लगी थीं। इसलिए लगा कि व्यवस्थित पढ़ाई करके स्वास्थ्य व्यवस्था की संरचना व विभिन्नताओं और विकल्पों की अपनी समझ बढ़ाई जाए। तब से चली आ रही खोज के आधार पर कुछ बातें आपके सामने रखूंगी।

उन्नीस सौ सत्तर और अस्सी के दशकों के दौरान आधुनिक 'विकास' की प्रमुख अवधारणा पर सवाल उठ रहे थे और दुनिया भर में आम लोगों की आवाज बुलन्द हो रही थी। 1940-50 के दशकों में स्वतन्त्रता प्राप्त देशों में 'नॉन-एलाइन्ड अभियान' के तहत साम्राज्यवादी देशों से अलग अपनी पहचान घोषित कर चुके थे, और हमारे देश में लोगों की आवाज जे.पी. आन्दोलन द्वारा मुखरित हुई थी।

'विकासशील' कहलाने वाले देशों के विकास के प्रयास औद्योगिक देशों के विकास की अवधारणा को अपने लिए अनुपयुक्त पा रहे थे। स्वास्थ्य के क्षेत्र में विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्लू.एच.ओ.) और संयुक्त राष्ट्र बाल इमरजेंसी फंड (यूनीसेफ) के तहत यह बात औपचारिक रूप से मानते हुए सभी देशों ने 'प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा' की अवधारणा द्वारा 'सभी के लिए सन् 2000 तक स्वास्थ्य' का लक्ष्य अपनाया। इस अवधारणा का एक महत्वपूर्ण अंग था 'उपयुक्त तकनीक' का इस्तेमाल। इस अवधारणा की विश्व स्तर पर मान्यता की नींव अनेक आन्दोलनों और बौद्धिक कर्मियों के संयुक्त प्रभाव से बनी थी। उसमें से एक थी महिला आन्दोलन की और उसके अनेक मुद्दों में एक महत्वपूर्ण मुद्दा था अपने शरीर की जानकारी का 'हक'। यह डॉक्टरों व मेडिकल व्यवस्था के आधिपत्य को चुनौती देते हुए उसके शिकंजे से बाहर निकल कर महिलाओं के अपने अनुभव, ज्ञान व अनुभूति की वैधता को स्थापित करने का प्रयास था। और, यह आम महिला के सशक्तीकरण का एक प्रमुख आयाम माना गया।

महिलाओं ने स्वयं सहायता समूह बनाए। आज जैसे आर्थिक लाभ व व्यापार के लिए बने 'एस.एच.जी.' नहीं, बल्कि स्वास्थ्य पर चर्चा, आपसी जानकारी बढ़ाने व डाक्टरी व्यवस्था के बाहर अपने बूते पर स्वास्थ्य वर्द्धन और बीमारी के इलाज के अन्य तरीके समझने-अपनाने के लिए। अमेरिका के ऐसे एक समूह ने 'आवर बॉडीज़, आवर सेल्व्ज़' (हमारा शरीर, हमारा अस्तित्व) नाम की पुस्तक निकाली जो दुनिया की अनेक भाषाओं में अनूदित हुई। दिल्ली सहित भारत के अनेक हिस्सों में ऐसे समूह बनने, उनकी चर्चाओं में भाग लेना मुझे याद है।

मेक्सिकन आदिवासियों के बीच कार्यरत डॉ. डेविड वर्नर ने 'वेयर देयर इज़ नो डॉक्टर' किताब लिखी, जिसे भारत में 'वॉलन्टरी हेल्थ ऐसोसिएशन' ने उसका भारतीय रूपान्तरण कर 'जहां डॉक्टर न हो' नाम से छापा और वैकल्पिक विकास पर काम कर रहे अनेक भारतीय समूहों ने सामुदायिक काम में उसका इस्तेमाल किया। लोक विज्ञान आन्दोलन (पीपुल्स साइन्स मूवमेंट) के तहत डाक्टरी ज्ञान में आम बीमारियों से जुड़ी जानकारी, व्यवस्था की कमियों व वैकल्पिक व्यवस्था के बारे में जानकारी फैलाने के प्रयास हेतु पुस्तकें निकलती थीं, गोष्ठियां और कार्यशालाएं आयोजित होती थीं।

आधुनिक मेडिकल विज्ञान को नकारे बिना, उसको 'लोगों का ज्ञान' बनाने

की कोशिश की गयी और साथ ही स्थानीय परम्परागत ज्ञान को 'वैज्ञानिकता' की कसौटी पर कसके उसको स्वावलंबी स्वास्थ्य व्यवस्था का हिस्सा बनाने की पहल भी की गई। महाराष्ट्र के जामखेड़ में अरोले दम्पति ने स्थानीय, अशिक्षित, ग्रामीण महिलाओं को प्रशिक्षित स्वास्थ्य कार्यकर्त्ता बनाया। प्रशिक्षण में बीमारी की रोकथाम व इलाज के प्राथमिक स्तर के आधुनिक व परम्परागत, दोनों तरीकों को शामिल किया गया। और ऐसे अनेक सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यक्रम देश भर में चलाए गए - मिर्जापुर में रागिनी बहन द्वारा, इला भट्ट की 'सेवा' द्वारा गुजरात में, तमिलनाडु के दीनबन्धुपुरम में, डॉ. भारतेन्दु प्रकाश द्वारा पूर्वी उत्तर प्रदेश में। इनके अनुभव से सरकार द्वारा 'सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्त्ता' का देशव्यापी कार्यक्रम चलाया गया। वह एक दशक के अन्दर ही मृतप्राय हो गया, परन्तु 2005 से दोबारा 'आशा' (एक्रेडिटेड सोशल हेल्थ ऐक्टिविस्ट) के नाम से पुनर्जीवित हुआ है।

महिला आन्दोलन की पहल पर प्रचलित गर्भ निरोधक तरीकों का महिलाओं के स्वास्थ्य पर बुरे असर को उजागर किया गया। महिला व स्वास्थ्य समूहों द्वारा उजागर किए जाने के कारण 'डिपोप्रोवेरा' और 'नेट एन' जैसे गर्भनिरोधक इन्जेक्शनों को सरकारी कार्यक्रम में शामिल नहीं किया गया। महिलावादी विचार था कि डाक्टरी व्यवस्था पितृसत्तात्मक सोच से प्रभावित है। यह व्यवस्था महिला ही नहीं, मरीजों के अनुभव को भी नकारते हुए डाक्टरों व मेडिकल उद्योग का लोगों के शरीर सम्बन्धी मुद्दों पर कब्जा स्थापित कर चुकी है। इस आधिपत्य द्वारा वह ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने का धंधा बन गई है।

इस प्रकार की चर्चाओं में, विवाद, प्रयोग चल ही रहे थे कि फिर आ गया 1980-90 का वैश्वीकरण का दौर जिसने दोबारा मेडिकल इंडस्ट्री' को बढ़ावा ही नहीं दिया, बल्कि उसे पुनर्प्रतिष्ठित कर दिया। कॉरपोरेट अस्पताल, डाक्टरी विशेषज्ञ ('स्पेशलिस्ट') व तरह-तरह के 'टेस्ट' का बोलबाला और ज्यादा मजबूती से स्थापित हो गया। कारपोरेट अस्पताल शहरों में पनपने लगे। किसी को केवल एमबीबीएस की डिग्री से डॉक्टर माना जाना मुश्किल हो गया, विशेषज्ञता की डिग्री लगभग आवश्यक हो गई। आम लोगों की मानसिकता भी इसी प्रकार ढलती चली गई, और साठ साल में, पढ़े-लिखे तबकों में पक्की धारणा घर कर गई है, कि 'असली इलाज' का मतलब तो डाक्टर और अस्पताल ही है। सवाल उठ सकता है, तो इसमें गलत क्या है?

## ऐलोपैथिक डाक्टरी व्यवस्था की उपलब्धियाँ!

साठ साल पहले स्वास्थ्य सेवाएं दुर्लभ थीं और अब जगह-जगह गोली-सुई तो मिल जाती है; जो दर्द, बुखार इत्यादि कम तो कर देती है। टीकों व ऐंटीबायॉटिक्स से संक्रामक रोगों की रोकथाम बड़े पैमाने पर हुई है। जान बचानेवाली सर्जरी का भी चमत्कार देखने को मिलता है। इन सबकी सचाई एक हद तक मानते हुए यह याद रखना ज़रूरी है कि औपनिवेशिक पश्चिमी देशों में टीकों व ऐंटीबायॉटिक्स के इजाद होने से पहले ही संक्रामक रोग बहुत हद तक घट चुके थे। भारत जैसे देशों में भी संक्रामक रोग व मृत्यु दर बीसवीं सदी की शुरुआत से घट रही है, और आजादी के बाद, पिछले छः दशकों में भी, जबकि ऐलोपैथिक स्वास्थ्य सेवाएं बड़े पैमाने पर फैलीं, इनके घटने की दर लगभग एक-सी ही रही है। जन्म के समय अनुमानित जीवन प्रत्याशा आजादी के पहले और बाद भी लगभग उसी दर से बढ़ती रही है। नीचे दिए गए ग्राफ में देखें, 1911-21 और 1931-41 के काल को छोड़ कर (विश्व युद्ध, अकाल व महामारी के साथ आये थे), औसत आयु बढ़ने की दर 1911-21 से 1931-41 और फिर 1941-51 से 1991-2000 में एक सी थी।

**जन्म के समय अनुमानित जीवन प्रत्याशा, भारत, 1900-2010**

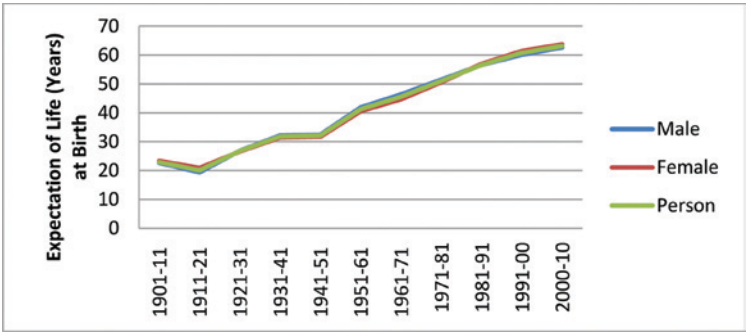


Source of Data for Graph: GOI (2011), Selected Socio-economic Statistics- L1, Ministry of Statistics and Programme Implementation, New Delhi.

**जन्म के समय अनुमानित जीवन प्रत्याशा, यू.एस.ए., 1900-1960**

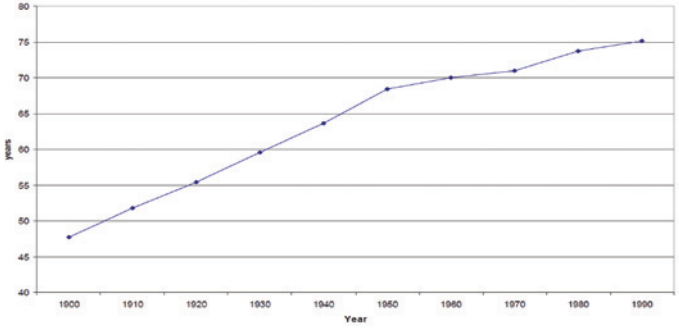


**टी.बी. की दर में गिरावट दवाओं की खोज के पहले और बाद में, यू.एस.ए., 1900-1995**

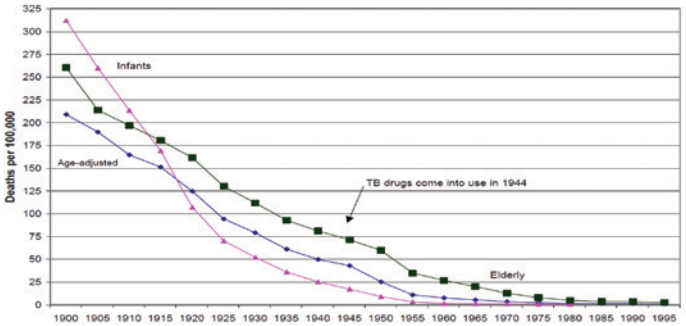


यह भी गौरतलब है कि ऐसा नहीं था कि अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में आम लोगों के पास कोई स्वास्थ्य सेवा नहीं थी। देश के हर कोने के गांव-गांव में वैद्य जी, जड़ी-बूटी के जानकार, दाइयां व सांप के काटे का इलाज करने वाले विशेषज्ञ थे। शहरों में ज्यादा पढ़े-लिखे वैद्यराज, हकीम व सिद्धार (तमिलनाडु में सिद्ध पद्धति के चिकित्सक) या आमची (तिब्बती चिकित्सा के डाक्टर) थे। और हर घर-समुदाय में स्वास्थ्य सम्बन्धी जानकारी की भरमार रहती थी, खासकर रोज़मर्रा की बीमारियों-तकलीफों से बचाव व इलाज के तरीकों की। हमारी आधुनिक शिक्षा-प्रणाली और विकास-नीतियों ने इन सबको लगभग अवैध करार दिया। इतिहास में ज्यादा न जाते हुए, एक घटनाक्रम का उल्लेख

यहां प्रासंगिक होगा, जो इस वैधता की राजनीति को उजागर करता है। ईस्ट इन्डिया कम्पनी की 'कम्पनी सरकार' ने भारत में पहला मेडिकल कॉलेज 'द नेटिव मेडिकल कॉलेज' कलकत्ता में 1822 में खोला। इसमें एशिया में पहली बार ऐलोपैथी की पढ़ाई शुरू हुई। तब की सर्वमान्य स्वास्थ्य पद्धतियों, आयुर्वेद और यूनानी, की पढ़ाई भी कॉलेज छात्रों को ऐलोपैथी के साथ-साथ कराई जाती थी, जिसके लिए उन्हें 'संस्कृत कॉलेज' और मदरसे भेजा जाता था। ऐलोपैथी की पढ़ाई स्थानीय भाषा में शुरू की गयी, जिसके लिए किताबों का अनुवाद भी कराया गया। परन्तु यह वह समय था जब अंग्रेजी हितों को मजबूत व स्थायी बनाने के प्रयास तेज़ हो रहे थे। मैकाले ने 1835 में अपने प्रसिद्ध 'मिनट्स' लिखे जिनमें उन्होंने 'ब्राउन बाबू' बनाने के लिए भारतीयों को अंग्रेजी में शिक्षा की तज़वीज़ रखी और भारत की सारी सांस्कृतिक ज्ञान धरोहर को 'यूरोप की एक शेल्फ की किताबों' के बराबर बताया। उसी वर्ष, यानी 1835 में, 'द नेटिव मेडिकल कॉलेज' बन्द कर दिया गया और केवल 'द कॉलेज' नाम से जाना जाने वाला संस्थान खोला गया, जो अंग्रेजी में और केवल ऐलोपैथिक की पढ़ाई करवाता था। इस प्रकार स्वास्थ्य ज्ञान पर औपनिवेशिक सत्ता द्वारा पश्चिमी ज्ञान स्रोत का वर्चस्व जमाने की शुरुआत हुई। यह प्रक्रिया समाज में विभिन्न स्तरों पर फैलती गई और जैसे देश व खासकर ग्रामीण इलाकों की अर्थव्यवस्था ध्वस्त की गई, वैसे ही परम्परागत ज्ञान पद्धतियों को भी कमज़ोर किया गया। ऐलोपैथिक स्वास्थ्य सेवाओं का गाँव-गाँव तक फैलाव आज़ादी के बाद ही हुआ, परन्तु स्थानीय पद्धतियों के नीतिगत समर्थन से इनकार व गरीबी बढ़ने के नकारात्मक असर परम्परागत ज्ञान पद्धतियों पर दिखने लगे। इस चुनौती का एक नतीजा यह भी हुआ कि शास्त्रीय पद्धतियों के चिकित्सक सामूहिक तौर पर संगठित हुए और अपनी पद्धतियों के आधुनिकीकरण के प्रयास भी किए।

## स्वास्थ्य ज्ञान की वैधता

सवाल उठता है कि स्वास्थ्य ज्ञान की वैधता के स्रोत क्या हैं? मानव इतिहास में तीन स्रोत पाए जाते हैं - धर्म, राज्य और बाज़ार तन्त्र। परम्परागत लिपिबद्ध, संहिताबद्ध शास्त्रीय ज्ञान पद्धतियों, जैसे आयुर्वेद, यूनानी, चीनी व तिब्बती पद्धतियों, पर भी इन तीनों का प्रभाव देखा जा सकता है और आधुनिक डाक्टरी व्यवस्था पर भी। इन तीनों में से कब कौन-सी वैधता का स्रोत ज्यादा या कम हावी होगा, वह उस समय की प्रचलित व्यवस्थाएं तय करती हैं। स्वास्थ्य के

क्षेत्र में कभी 'धर्म' का वर्चस्व रहा, कभी धर्म और 'राज्य' का साथ-साथ। कभी राज्य-तन्त्र हावी रहा, कभी बाज़ार और कभी दोनों की सांठ-गांठ।

लेकिन इसके साथ, इन सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक तन्त्रों के बाहर भी, समाज अपनी गति से चलता है। समाज-समुदाय अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी अपने ढंग से जीने की कोशिश करते हैं, परन्तु विभिन्न तन्त्रों द्वारा तय परिधि के अन्दर ढलते भी हैं। अपने ढंग से चलते हुए समुदाय स्थापित ज्ञान-तन्त्र व तौर-तरीकों के अतिरिक्त भी अपने इतिहास व सामयिक अनुभव से ज्ञान संजोते हैं और अपनी परिस्थितियों के अनुकूल उसे अपनाते व ढालते चलते हैं। ज्ञानार्जन का तन्त्र जितना बहुलतावादी रह पाता है, उतना ही समुदायों की जीवनशैली से जुड़ा रहता है या अपने को जोड़ पाता है। इसीलिए आधुनिक डाक्टरी ज्ञान को राज्यतंत्र के पूर्ण समर्थन के बावजूद अन्य पद्धतियों व परम्पराओं का प्रचलन आज भी हमारे समाज में बड़े पैमाने पर जारी है। और, यह केवल उन गरीब ग्रामीण, दूर-दराज के समुदायों में नहीं है जिन्हें डाक्टरी इलाज नहीं मिल पाता। घरेलू इलाज, परम्परागत लोक चिकित्सक जैसे जड़ी-बूटी वाले जानकार, हड्डी बिठाने वाले पहलवान, जच्चा-बच्चा की देखभाल करने वाली दाइयां, देश के सभी हिस्सों में आज भी हैं, और वह भी केवल इस बूते पर कि सभी वर्गों के लोग आज भी इनका इस्तेमाल करते हैं। लोगों का अनुभव उन्हें बताता है कि डॉक्टरी इलाज की कमियां क्या हैं और अन्य पद्धतियों से उन्हें क्या फ़ायदा मिल सकता है। विभिन्न पद्धतियों के वाहक, उनके प्रेक्टिशनरस् भी उनको जिन्दा रखते हैं।

इस प्रकार स्वास्थ्य व चिकित्सा ज्ञान और उनकी प्रैक्टिस को वर्तमान समय में तीन भिन्न समूहों में विभाजित कर सकते हैं- (1) मेडिकल ज्ञान के डाक्टर जो आधुनिक तन्त्र द्वारा वैधता प्राप्त चिकित्सक हैं, यानी एम.बी.बी. एस. डिग्री प्राप्त व उसी ज्ञान के अनौपचारिक चिकित्सक, (2) परम्परागत ज्ञान के चिकित्सक, जिनको आधुनिक तन्त्र द्वारा वैधता प्राप्त हैं, जिसका राजकीय नाम 'आयुष' बन गया है - आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध, स्व-रिगपा, योग और नैचुरोपैथी, व होमियोपैथी। वे आधुनिक तर्ज पर डिग्री प्राप्त करते हैं। (3) राजकीय तन्त्र से कोई वैधता या पहचान से वंचित परम्परागत लोक चिकित्सक - जिनमें घरेलू नुस्खे इत्यादि व विभिन्न लोक ज्ञान शामिल हैं - दाइयां, हड्डी बिठानेवाले, जड़ी-बूटी वाले आदि। इनमें अनेक मिश्रित प्रकार भी हैं, जैसे कि दाइयां जो जड़ी-बूटी भी जानती हैं और जड़ी-बूटी वाले जानकार जो मन्त्र और

झाड़ा भी करते हैं। वैसे, एक अलग प्रकार है जन्तर-मन्तर वालों का। आज घरेलू ज्ञान केवल परम्परा पर आधारित नहीं हैं। आधुनिक दवा के लोक-व्यापीकरण से लोगों ने रोज़मर्रा की अपनी शब्दावली व व्यवहार में आधुनिक ज्ञान से भी कुछ-न-कुछ अपना लिया है।

इस बहुलता को बीसवीं सदी के आधिपत्य प्राप्त विकास और ज्ञान तन्त्र ने कबूला नहीं है। उसने इसे 'पिछड़ापन', 'गैर-वैज्ञानिकता', व 'अविकसित समाजों की मजबूरी' करार दिया है। इस धारा की सबसे उदार संकल्पना यह थी कि विभिन्न ज्ञान पद्धतियाँ 'प्रोटो साईन्स' यानी 'आधुनिक विज्ञान के पहले के ज्ञान' हैं, जो 'विज्ञान' तक पहुंचने की सीढ़ी जरूर थे, परन्तु आज का 'विज्ञान' ही पूर्णतः परिपक्व ज्ञान है। राजनीतिक व बाज़ार के दबावों के चलते परम्परागत शास्त्रीय पद्धतियों को 1947 के बाद कुछ राजकीय समर्थन मिलता रहा, परन्तु वह कितना गैर-बराबर गैर-लोकतान्त्रिक बहुलता है, इसका अन्दाजा इस बात से लगा सकते हैं कि केन्द्रीय स्वास्थ्य बजट का केवल 2-3 प्रतिशत ही आयुष को मिलता रहा है, बाकी 97 प्रतिशत ऐलोपैथी को। औपचारिक पहचान से वंचित पूर्णतः अवैध रहा 'लोक-ज्ञान'।

परम्परागत शास्त्रीय पद्धतियों ने भी अपनी विशिष्टता स्थापित करके लोक-ज्ञान को अपने से नीचा करार दिया है। परम्परागत ज्ञान 'लोक-जानकारी' को संजोते हुए उपजा है, यह तो 'चरक संहिता' ने भी माना है।

'भेड़-बकरी चराने वाले, चरवाहे व अन्य वनवासी औषधीय जड़ी-बूटियों के नाम व रूप जानते हैं। कोई भी केवल नाम व रूप की पहचान जानने से औषधीय पौधों का सबसे उत्तम औषधीय उपयोग नहीं जान सकता। जिसको सही उपयोग की जानकारी है, वह मूल आवश्यक ज्ञान का ज्ञाता कहलाता है, चाहे वह औषधीय पौधे का रूप न जानता हो। उस वैद्य का क्या कहना जिसको औषधि का समग्र ज्ञान हो (रूप व मूल औषधीय आधार दोनों की जानकारी)। परन्तु सर्वोत्तम वैद्य वह माना जाएगा जो स्थान व काल के अनुकूल और व्यक्तिगत प्रकृति के अनुसार औषधीय पौधों की सही जानकारी रखता हो।' (चरक संहिता, सूत्रस्थान 1/120-123)

इसके विपरीत ऐलोपैथी का आधुनिक ज्ञान वैज्ञानिक की लैबोरेट्री व डाक्टर की विशेषज्ञ जानकारी से उपजा है। इस प्रकार दोनों का मूल फर्क है - आम लोगों की ज्ञान प्रक्रिया में भूमिका

शायद हर काल खण्ड व स्थान में समाज में किसी न किसी ज्ञान पद्धति का आधिपत्य रहता है, या उसकी कोशिश रहती है। समाज में जितनी बहुलता व लोकतंत्र व्याप्त होता है, उतना ही ज्ञान की बहुलता भी पनपती है। साथ ही, जो ज्ञान तंत्र सबसे समग्र होगा, जिसमें विभिन्न स्वास्थ्य सम्बन्धी अनुभवों व समस्याओं को समझने व सुलझाने की क्षमता होगी, उतना ही उसको समाज में औपचारिक या अनौपचारिक वैधता मिलती है। चाहे वह ऐलोपैथी हो, या आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध और स्वरिगपा, और चाहे वह परम्परागत लोक चिकित्सक हों, सब की शरीर, स्वास्थ्य, बीमारी व चिकित्सा के लिए अपनी अपनी 'थ्योरी' (सिद्धान्त व नियम), 'कॉन्सेप्ट' (परिकल्पना) व ज्ञान-अर्जन की कार्य-प्रणाली होती है। इनके अनुसार ज्ञान-तन्त्र व स्वास्थ्य सेवा की प्रक्रिया में आम व्यक्ति या मरीज़ का स्थान तय रहता है।

ज्ञान-अर्जन के मूलतः दो ही तरीके हैं - एक है अवलोकन से जानकारी इकट्ठी करना, उस जानकारी का वर्गीकरण व व्यवस्थित करके कारक ढूंढना, इसके लिए परीक्षण व प्रयोग करना, शोध के निष्कर्षों के आधार पर सिद्धांत गढ़ना और उस विषय को संहिताबद्ध (कोडिफाई) करना। दूसरा तरीका है - बने-बनाए सिद्धांतों के आधार पर नई जानकारी या बदलाव को समझना; अवलोकित तथ्यों को अपनाए गए सिद्धान्तों की कसौटी पर परखना और सही या गलत करार देना। तीसरा तरीका है 'प्राप्त ज्ञान' का, परन्तु उसे जानने-समझने की मेरी क्षमता नहीं है।

आमतौर पर सभी ज्ञान पद्धतियों में दोनों का समावेश पाया जाता है, परन्तु जब ज्ञान तन्त्र की वैधता के स्रोत मुख्यतः राज्यतन्त्र व मुनाफ़ाखोर बाज़ार तन्त्र बन जायें, तब न अवलोकित तथ्य और न ही सिद्धान्त खड़े हो पाते हैं। ज्ञान के तर्कसंगत आधार को किनारे रखकर व्यवस्थाएं गढ़ी जाती हैं व गैर-तार्किक ढंग से ज्ञान पद्धति को तोड़-मरोड़कर उसका उपयोग-दुरुपयोग किया जाता है। आज की स्वास्थ्य-व्यवस्था में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं।

परन्तु जब ज्ञान पद्धति की सीमाएं दिखने लगें तब उसके लिए अपनी ही समीक्षा करना आवश्यक हो जाता है। स्थापित सिद्धान्तों को तथ्यों या अनुभवों के आधार पर समीक्षा और आलोचना करके बदलने की प्रक्रिया 'विज्ञान' का महत्वपूर्ण अंग है। जब सिद्धान्तों की समीक्षा को 'विज्ञान विरोधी' माना जाने लगे और ज्ञान पद्धति इस के कारण जड़ हो जाए, तब वह विज्ञान से वर्चस्ववादी

'विचारधारा' बन जाती है। आज हम विज्ञान और विकास के नाम पर यही मुख्यधारा में बहता प्रवाह देख रहे हैं।

इसलिए लोकतान्त्रिक बहुलतावादी ज्ञान-तन्त्र की आवश्यकता है। ज्ञान तन्त्र में ऐसी क्षमता होनी चाहिए जो हर ज्ञान-पद्धति का प्रयोग करने, अपने सिद्धान्तों की समीक्षा करने व अपने में अपनी मूल धारणाओं के अनुसार बदलाव का मौका दे सके। इसका सबसे लोकतान्त्रिक तरीका हो सकता है - एक परस्पर संवादात्मक बहुलतावाद (Inter-active pluralism) का, जो न तो किसी एक का वर्चस्व माने, न एक को दूसरे में समाहित करने (integration) की बात करे। हर ज्ञान-पद्धति अपनी मजबूती के आयामों को आगे बढ़ाते हुए औरों से सीखे, संवाद करे। आज इस ओर बढ़ते कुछ प्रवाह हैं। यहां इन सकारात्मक प्रवाहों और उनकी बढ़ती आवश्यकता पर बात करना प्रासंगिक होगा।

## अमीर पश्चिमी देशों के अनुभव के सबक

ऐलोपैथिक स्वास्थ्य तन्त्र औपनिवेशिक लूट पर आधारित पश्चिमी सभ्यता में, मूलतः शहरी व औद्योगिक समाजों व पूंजीवाद के बढ़ते दौर में उपजा है और इसलिए प्रकृति से दूर अमीर शहरी समाजों के अनुकूल रहा है। हमारे जैसे समाजों में जहां बहुसंख्य आबादी आज भी ग्रामीण और प्रकृति से जुड़े जीवन यापन के तरीकों में लगे लोगों की है यह कितना माकूल है?

**International Comparison of Health Expenditures and Life Expectancy**

| Country | GDP per capita (current USD)* | Total Health Exp per capita (USD) – 2011** | Total Health Exp as % of GDP – 2011** | Govt. Health Exp as % of Total Health Exp – 2011** | Life Expectancy at birth (years) 2012** |
|---|---|---|---|---|---|
| India | 1,497.5 | $62 | 3.9% | 30.5% | 66 |
| Thailand | 5,779.0 | $214 | 4.1% | 77.7% | 75 |
| Sri Lanka | 3,279.9 | $ 93 | 3.3% | 42.1% | 75 |
| **BRICS Countries** | | | | | |
| Brazil | 11,208.0 | $ 1119 | 8.9% | 45.7% | 74 |
| China | 6,807.4 | $ 274 | 5.1% | 55.9% | 75 |
| Russia | 14,611.7 | $803 | 6.1% | 59.8% | 69 |
| South Africa | 6,886.3 | $670 | 8.7% | 47.7% | 59 |

| OECD Countries | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| USA | 53,042.0 | $ 8,467 | 17.7% | 47.8% | 79 |
| UK | 41,781.1 | $ 3,659 | 9.4% | 82.8% | 81 |
| Germany | 46,251.4 | $ 4,996 | 11.3% | 76.5% | 81 |
| France | 42,560.4 | $ 4,968 | 11.6% | 76.8% | 82 |
| Norway | 100,898.4 | $ 9,908 | 9.9% | 85.1% | 82 |
| Sweden | 60,380.9 | $ 5,419 | 9.5% | 81.6% | 82 |
| Denmark | 59,818.6 | $ 6,521 | 10.9% | 85.3% | 80 |
| Japan | 38,633.7 | $ 4,656 | 10% | 82.1% | 84 |

**Source: * http://data.worldbank.org/indicator/NY.GDP.PCAP.CD**

**Draft National Health Policy 2015, Ministry of Health and Family Welfare, Govt. of India.

अब यह मंहगी व्यवस्था उनके लिए भी भारी पड़ रही है, और हमको सपना दिखाया जा रहा है कि हम भी उनके जैसी स्वास्थ्य व्यवस्था सब को मुहैया करवा सकते हैं। वैश्विक स्तर पर 1978 में 'हेल्थ फॉर ऑल' का नारा अपनाया गया था, और अब 2008 से 'युनिवर्सल हेल्थ कवरेज' का नारा चल रहा है। और, इसका आधार माना जा रहा है इंश्योरेन्स को, कि स्वास्थ्य बीमा द्वारा मंहगा इलाज भी सभी के लिए प्राप्य हो जाएगा। प्लानिंग कमीशन की 'उच्च स्तरीय एक्सपर्ट ग्रुप', जिसको 2011 में देश में 'युनिवर्सल हेल्थ कवरेज' पाने का खाका बनाने का काम सौंपा गया, ने विभिन्न अमीर, मध्यम व निम्न आय वाले देशों के अनुभव को जांचा, जिन्होंने सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाएं प्रदान करने की दिशा में खासी सफलता पा ली है। अपने विश्लेषण के बाद उन्होंने बीमा द्वारा सार्वजनिक सेवा व्यवस्था चलाने की बात खारिज कर दी। कुछ मध्यम आय वाले बड़े देश, जैसे ब्राज़ील और थाईलैंड, ने बीमा आधारित सार्वजनिक व्यवस्था बनाने का प्रयोग किया, परन्तु फिर उसे छोड़कर सरकारी खर्चे व सार्वजनिक तन्त्र द्वारा ही सेवाएं प्रदान करके उन्होंने सफलता हासिल की। केवल जर्मनी, फ्रांस और जापान जैसे दुनिया के सबसे अमीर देशों में ही बीमा और प्राइवेट स्वास्थ्य व्यवस्था द्वारा सार्वजनिक सेवाएं प्राप्त हैं। नॉर्डिक देशों में (यानी नार्वे, स्वीडन और फिनलैंड में) वेलफेयर मॉडल सबसे परिपक्व व सराहनीय है। इन देशों में सरकारी सेवाएं पूर्णतः सबको पहुँचती हैं। इनकी व्यवस्था अमीर देशों में सब से कम खर्चीली व अधिकतम प्रभावशाली है। परन्तु ये छोटी व लगभग एकात्मता वाली आबादी के समाज हैं। इनके अनुभव से सीख ले सकते हैं, परन्तु मॉडल तो अपने ही गढ़ने पड़ेंगे।

अब यह भी स्पष्ट है कि डाक्टरी इलाज सतत् मंहगा होता जा रहा है और इससे अमीर से अमीर देश परेशान हैं। सबसे अमीर माने जाने वाले देश अमरीका को ही लें। यूरोप और अमरीका के 2008-09 की आर्थिक मंदी (रिसेशन) में कंपनियों, जैसे फोर्ड कम्पनी, को कंगाली की ओर ले जाने में उनके अपने कर्मचारियों के मेडिकल बिलों का भी योगदान रहा। श्री ओबामा और उससे पहले श्री बिल क्लिंटन के सभी अमेरिकी नागरिकों को स्वास्थ्य सेवाएं मोहय्या कराने की कोशिशें कैसे नाकाम रहीं, यह सब जानते हैं।

कुछ वैज्ञानिक आकलन बता रहे हैं कि 2030 तक अमरीका का मेडिकल खर्च देश की सकल आय का 20 प्रतिशत हो जाएगा। वहां की व्यवस्था मूलतः प्राइवेट सेवाओं पर आधारित है। और सारा खर्चा इंश्योरेन्स द्वारा उठाया जाता है। क्योंकि इंश्योरेन्स पर मूलतः हरएक को अपनी जेब से खर्चना होता है, इसलिए 18 प्रतिशत गरीब आबादी इलाज नहीं करा पाती। उनके लिए सरकारी 'मेडिकएड' और 'मेडिकेयर' कार्यक्रम व स्वास्थ्य केन्द्र चलाए जाते हैं। आमतौर पर यहां प्राइवेट अस्पताल हैं, जिन्हें दुनिया के सबसे बेहतरीन इलाजवाले माने जाते हैं और जहां हमारे देश के शीर्ष नेता व उद्योगपति इलाज के लिए जाते हैं। हम अपनी स्वास्थ्य व्यवस्था को उसी ओर धकेल रहे हैं। परन्तु अनेक विश्लेषण बताते हैं कि यह सबसे मंहगा व अन्य अमीर देशों की तुलना में स्वास्थ्य की स्थिति बेहतर करने में सबसे कम कामयाब व्यवस्था है। चौंकाने वाले आंकड़े यह हैं कि अमरीका में 'कंगाल' घोषित होनेवाले व्यक्तियों में मेडिकल खर्च का बड़ा योगदान है, और एक विश्लेषण ने पाया कि इनमें 75 प्रतिशत ऐसे थे जो मध्यम वर्गीय थे और जिनके पास मेडिकल 'इंश्योरेन्स' था।

खर्च की बात एक ओर रख दें और डाक्टरी ज्ञान व तकनीकी की बात दूसरी ओर तो दो तथ्य देखे जा सकते हैं जो आम चर्चा में नहीं आते। अमेरिका में डॉक्टरी इलाज जनित बीमारी व मृत्यु ने भयावह ऊंचाई छू ली है। मृत्यु के प्रमुख दो कारणों - हृदय रोग और कैंसर - के बाद 'आईट्रोजेनेसिस' यानी इलाज जनित बीमारी, तीसरे नंबर पर आती है। सभी आकलन उसे पहले 10 कारणों में से एक तो बताते ही हैं। जब यह वहां की 'सबसे बढ़िया' व्यवस्था का नतीजा है, तो हम अपने जैसे अ-विनियमित (अनरेगुलेटेड), व्यवस्था से क्या उम्मीद करें? आईवान इलिच ने 1970 के दशक में इसे शारीरिक 'आइट्रोजेनेसिस' कहा था। साथ ही, उन्होंने 'सामाजिक आइट्रोजेनेसिस' व

'सांस्कृतिक आइट्रोजेनेसिस' की अवधारणा भी दी कि कैसे यह डाक्टरी ज्ञान सामाजिक रिश्तों को नज़रअन्दाज करता है, और डॉक्टरी व्यवस्था सामाजिक रिश्तों को कमजोर करती है और कैसे विभिन्न संस्कृतियों को कमजोर करती है - उनकी खाने-पीने, रहन-सहन, स्वास्थ्य वर्द्धन के तौर-तरीकों की वैधता खत्म करती है।

दूसरा तथ्य यह है कि अमेरिका के आधिकारिक सर्वेक्षण ने 2007 में पाया कि 38% वयस्क लोग ऐलोपैथी के अलावा अन्य पद्धतियों का इस्तेमाल करते हैं। विभिन्न प्रकार की पद्धतियों को 'कॉप्लिमेन्ट्री एण्ड ऑल्टरनेटिव मेडिसन' नाम से आज के तन्त्र ने पहचान भी दी है, उनपर शोध भी चल रहा है और एमबीबीएस के पाठ्यक्रम में भी उसे औपचारिक स्थान दिया गया है। जब अमेरिका में यह परिस्थिति है तो हमारे यहां जिन ज्ञान पद्धतियों व परम्पराओं की बहुलता है, उन्हें हम क्यों अवैध मान बैठे हैं?

## स्वास्थ्य ज्ञान बहुलता की वैधता

आधिकारिक तौर पर डाक्टरी ऐलौपैथी के अलावा हमारे देश में सात पद्धतियों को मान्यता प्राप्त है जो दुनिया में और कहीं नहीं है। पिछली शताब्दी के शुरुआती दशकों से ही इन 'भारतीय पद्धतियों एवम् होमियोपैथी' को ऐलोपैथी की 'मुख्यधारा' से जोड़ने की या 'एकीकृत' करने (Integration) की बात कही जा रही है। परन्तु 1950 से जो मॉडल सरकार ने नियोजित या इन स्वास्थ्य सेवाओं के विकास के लिए अपनाया, उसमें अन्य पद्धतियों का कोई स्थान नहीं था। राजनैतिक दबावों के चलते मान्यता तो दी गई परन्तु सरकारी व्यवस्था में उन्हें कभी गंभीरता से नहीं लिया गया। तभी तो आज तक उन सभी को कुल मिलाकर 3 प्रतिशत से कम ही स्वास्थ्य बजट का हिस्सा दिया गया। ज्ञान पद्धतियों के 'एकीकरण' के नाम पर आयुष के स्नातकों के पाठ्यक्रम में आधुनिक अनैटोमी, फिज़ियोलॉजी और फ़ार्माकालॉजी पढ़ाई जाने लगी और इन पद्धतियों की कारगरता जाँचने के लिए गैर-तार्किक ढंग से आधुनिक ज्ञान की कसौटियाँ लागू की गईं। इससे इन ज्ञान पद्धतियों पर भरोसा कम ही हुआ, बढ़ा नहीं।

**सार्वजनिक सेवा में एलोपैथी तथा आयुष**

| S. No. | Modern Medicine | AYUSH (Stand Alone) |
|---|---|---|
| 1.Service Delivery Infrastructure | SC = 1,46,036 | Nil for outreach services |
| | PHC = 23,458 | Dispensaries = 22,312 |
| | RH (including CHC)= 6281<br>UH = 3115<br>Total = 11,613 | Hospitals = 3378 |
| | Beds (R)= 1,43,069<br>Beds (U)= 3,69,351<br>Beds (T)= 5,40,328 | Beds= 68,155 |
| 2. Colleges | Medical Colleges= 300<br>Annual intake capacity= 34,595 | Total AYUSH Colleges= 492<br>Annual intake capacity= 30,086 |
| 3. Distribution of Total Health Budget Allocation | Dept. of H&FW= 90%<br>National AIDS Control Organisation=4%<br>Department of Health Research=3% | Department. of AYUSH= 2.7% |

बड़ी संख्या में विभिन्न राज्यों में डिस्पेंसरी और अस्पताल खुले, और कुल मिलाकर हर साल उनके लगभग तीस हजार स्नातक तैयार किए जाते हैं, जो संख्या एमबीबीएस स्नातकों के करीब ही है। परन्तु इन सब सेवाओं व कॉलेजों के लिए मात्र 3 प्रतिशत बजट है तो उनकी गुणवत्ता की क्या उम्मीद हो सकती है? फिर इन टूटी-फूटी डिस्पेंसरियों में कोई मरीज़ आता नहीं तो इससे वैधता पर और प्रश्नचिन्ह लग जाते हैं। जो स्नातक तैयार होते हैं वह अपने ज्ञान के प्रति खुद हीन भावना से ग्रस्त रहते हैं।

परन्तु विडम्बना यह है कि इस ज्ञान की वैधता दुनिया भर में बढ़ रही है। अमेरिका में मेडिकल शोध के शीर्ष पर वैज्ञानिकों व डाक्टरों की एक प्रमुख धारा 'साईको-न्यूरो-इम्यूनॉलोजी' का नया विषय इजाद कर, परम्परागत ज्ञान के सिद्धान्तों के करीब पहुंच रही है। यह दिमाग के बुद्धि व मन का पक्ष, दिमाग के शारीरिक तन्तु-तन्त्र व बीमारी से बचाव के तन्त्र, तीनों के बीच रिश्ता समझने की कोशिश है जो आधुनिक विज्ञान के बुद्धि, मन और शरीर को अलग-अलग करके जाँचने के सिद्धान्त व प्रथा के विपरीत जा रही है। 'सिस्टम्स बाईलॉजी' मुख्यधारा के परम्परागत जीव विज्ञान (यानी 'आधुनिक' ज्ञान की परम्परागत बाईलॉजी) से फर्क सिद्धान्त गढ़ रही हैं। शरीर के तन्त्रों को अलग-अलग करके

देखने के बजाय अलग-अलग तन्त्रों के आपसी रिश्तों पर अब 'सिस्टम्स बाईलॉ जी' की धारा शोध कर शारीरिक प्रक्रियाओं को समग्रता से समझने का प्रयास कर रही है। आयुर्वेद में हर व्यक्ति की विशेष 'प्रकृति' की अवधारणा को उनके 'जीन' से मिलान किया गया है।

परन्तु आज भी जब इन ज्ञान पद्धतियों को ज्यादा महत्व देने की बात उठाई जाती है तो नीति निर्धारक व अफसर पूछते हैं - ''इनके असरकारक होने के वैज्ञानिक सबूत कहां हैं?'' अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार व इंडस्ट्री के इन पद्धतियों की तकनीकी पर पेटेन्ट की कोशिशों के खिलाफ तो इस ज्ञान के बचाव में वह खड़े हो जाते हैं; परन्तु उस तकनीक के पीछे के विज्ञान को नहीं मानने को तैयार।

जो अब सरकारी शब्दावली में 'आयुष' कहलाती हैं यह सब पद्धतियां तो शास्त्रीय ज्ञान पद्धतियों व उनके संस्थाकरण का हिस्सा हैं। इनकी भी अपनी 'इंडस्ट्री' और बाजार बनते-बदलते जा रहे हैं जिनको सरकार का प्रोत्साहन मिल रहा है।

दूसरा बड़ा हिस्सा 'लोक ज्ञान' का है। यह बाजार के बाहर का ज्ञान है जो लोग खुद घर, गांव, बस्ती, समुदाय में जानते, इस्तेमाल करते, घटाते-बढ़ाते और सुधारते-मांझते रहते हैं। घरेलू इलाज गांव में ही नहीं शहरों और मध्यम वर्ग में भी प्रचलित हैं। और स्थानीय जड़ी-बूटी की औषधीय गुणों का ज्ञान प्रकृति के सबसे करीब रहने वालों से ज्यादा किसके पास हो सकता है - आदिवासी, जंगल में रहने वाले अन्य समुदाय 'गड़रिए' और खेतिहर लोग इनके मूल स्रोत व आधार रहे हैं। परन्तु इन्हीं को हम सबसे अज्ञानी, निरक्षर और जाहिल मानते हैं।

मुनाफे की भूख ने आज फिर इस ज्ञान की याद दिलाई है और आधुनिक दवा इंडस्ट्री 'बायों-प्रोस्पेक्टिंग' कर इन समुदायों का ज्ञान उघराती है। उससे नए केमिकल आसानी से 'खोज' लेती है और 'नई' दवाएं बनाती है। मगर कहीं भी इनके ज्ञान के प्रति अपना आभार प्रकट नहीं करतीं। राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय 'बौद्धिक संपदा अधिकार' (आई.पी.आर.) के तहत मुनाफा बांटने पर चर्चा तो है, परन्तु इस ज्ञान के नियमों को नजरअंदाज कर क्या उसकी कीमत किसी एक व्यक्ति या समुदाय को चुकाई जा सकती है? बड़ी पेचीदा परिस्थिति बन गई है, क्योंकि 'पेटेंट' व्यक्तिपरक शोध व ज्ञान अर्जन की अवधारणा पर आधारित है और लोक-ज्ञान सामूहिकता पर आधारित है। अगर 'लोक-ज्ञान' को पेटेंट से

बाहर रखें तो इंडस्ट्री उसे लील लेगी और अगर उसमें घुसें तो सामूहिक तौर पर कैसे?

## लोक ज्ञान और सशक्तीकरण/स्वराज की ओर

खैर। फिर वापस आते हैं लोक ज्ञान की भूमिका और औचित्य पर। पहले कुछ उदाहरण देखेंगे और फिर 'ज्ञान स्वराज' से लोक सशक्तीकरण के लिए संभव कदम पर चर्चा करेंगे। ऐलोपैथी की कुछ प्रचलित प्रथाओं के विवादित मुद्दों से जुड़े महिला स्वास्थ्य के कुछ उदाहरण लोक ज्ञान पद्धति की वैधता के महत्व को उजागर करते हैं।

## लोक परम्पराओं की वैधता

हमारे दलित व आदिवासी समूहों के पास विशेष ज्ञान रहा है, जो आज भी उनके जीवन का हिस्सा है। देश के विभिन्न भाग में स्वास्थ्य की उनकी समझ व तौर-तरीकों के शोध इसका महत्व दर्शाते हैं। मेरे अपने शोध इस बात की पुष्टि करते हैं। 2008-09 में 18 राज्यों में सरकारी 'आयुष' सेवाओं व उनके इस्तेमाल के सर्वे में पाया कि आज भी बड़े पैमाने पर 'दाई' की सेवाएं ली जाती हैं। इन राज्यों में डॉक्टरी इलाज के साथ-साथ घरेलू इलाज व लोक चिकित्सकों से इलाज का इंतजाम पाया जाता है। और यह केवल गरीब, ग्रामीण या दूर-दराज़ के इलाकों की बात नहीं है। शहरी, खाते-पीते परिवार भी इनका आसरा लेते हैं, और वह नई पीढ़ी जिस तक यह ज्ञान सामान्यतः पहुंचा नहीं, क्योंकि उनके पढ़े-लिखे माता-पिता ने इसे पिछड़ापन मानकर त्याग दिया था, वह भी इसे सीखने-जानने को उत्सुक है।

दिल्ली में 2013 में तीन तबकों - बेघर, गरीब बस्ती व मध्यम वर्गीय कॉलोनी - में किए गए सर्वेक्षण ने पाया कि लगभग 40 प्रतिशत बीमारियों में लोगों ने घरेलू इलाज व आहार बदला, इसमें से आधे, यानी 20 प्रतिशत को इसके बाद किसी और इलाज़ की ज़रूरत नहीं पड़ी, बाकी 80 प्रतिशत बीमारी में लोग बाहर इलाज के लिए गए, जिसमें 10 प्रतिशत ने किसी परम्परागत पद्धति से इलाज करवाया व 70 प्रतिशत ने ऐलोपैथी का। ऐलोपैथी चिकित्सा लेने वालों में लगभग 30 प्रतिशत ने औपचारिक डॉक्टर या अस्पताल से इलाज लिया और 40 प्रतिशत ने गैर-एम.बी.बी.एस. झोला छाप डॉक्टर या दवा की दुकान से। यानी केवल 30 प्रतिशत बीमारी में वैध ऐलोपैथिक चिकित्सक से

इलाज लिया गया और इस औपचारिक इलाज लेनेवालों में 70 प्रतिशत मध्यम वर्गीय लोग थे, गरीब तबकों में तो केवल 30 प्रतिशत ने इनसे उपचार कराया। इसका कारण गरीबी है या मध्यम वर्ग की निर्भरता?

एक सड़क चौराहे पर भीख मांगनेवाली लगभग साठ वर्षीय महिला की बात मैं भूलती नहीं। वह 25 साल पहले बिहार से काम की खोज में दिल्ली पहुंची थी और अपनी तीन बेटियों के साथ दक्षिण दिल्ली के आर.के. पुरम में झुग्गी बनाकर रहती थी। एक बाँह कट जाने के कारण भीख माँगना ही उसका पेशा बन गया था। अब उसकी तीन बेटियों की शादी के बाद आठ बच्चे हैं। एक विधवा होने के कारण और बाकी दो प्रताड़ना न सहने के कारण तीनों वापस माँ के पास आ गई हैं। उनमें से एक अब उनकी झुग्गी-बस्ती की 'प्रधान' भी है। तो तीन बेटियों और नाती-नातिनों की जिम्मेवारी सम्भालती यह प्रवासी महिला बताती है कि कैसे उसने जड़ी-बूटी की अपनी जानकारी के सहारे बच्चों का इलाज कर उन्हें पाला। कैसे वह बस-स्टेन्ड के पीछे से फलां पौधे के पत्ते लाती थीं, मल्लई मन्दिर के पास से कौन सी जड़ें मिल जाती थीं और 3-4 किलोमीटर दूर लाड़ो सराय से वह कौन से पौधे ढूंढ लाती थीं। पर फिर उसने कहा कि 'पर अब तो डाक्टर के पास ही ले जाते हैं'। इसका कारण पूछने पर उसने बताया कि पक्के फुटपाथ और मकान बढ़ते जाने से पौधे मिलने मुश्किल होते जा रहे हैं। अन्त में जो उसने दुखी मन से कहा, जितना मार्मिक था उतना ही चिन्ताजनक भी। उसने अपनी छाती पर हाथ रखते हुए कहा कि 'अब डाक्टर के यहां ही ले जाते हैं क्योंकि अब हमने अपने पर विश्वास खो दिया है।''

अट्ठारह राज्यों के 2008-09 के सर्वेक्षण में हमने पाया था कि आम लोगों की घरेलू नुस्खों की जानकारी का 75-80 प्रतिशत हिस्सा परम्परागत शास्त्रीय पद्धतियों, यानी आयुर्वेद, यूनानी या सिद्ध के शास्त्र व सिद्धान्त की कसौटी पर खरा उतरता है। यानी, अगर इस ज्ञान को वैध मानें तो लोक-ज्ञान आज भी एक बड़ी धरोहर है। इसी सर्वेक्षण ने पाया कि सरकारी स्वास्थ्य केन्द्रों व जिला अस्पताल में कार्यरत ऐलोपैथिक डॉक्टरों में 77 प्रतिशत मानते हैं कि 'अन्य पद्धतियों में भी कुछ तो फायदेमंद है'। 50 प्रतिशत से अधिक ने बताया कि अपने मरीजों को वह खुद अन्य पद्धतियों से ली हुई जानकारी के आधार पर सलाह देते हैं या दूसरी पद्धति के जानकार के पास जाने की सलाह देते हैं। परन्तु यह सलाह कभी लिखित नहीं होती। वह मुंहज़बानी ही होती है, शायद

इसलिए कि यह 'अवैध' हरकत व अपनी पद्धति से गद्दारी मानी जाएगी। उनके पास अन्य जानकारी आई कहाँ से? एमबीबीएस के पाठ्यक्रम में तो, अनेक प्रयासों के बावजूद, मेडिकल कांउन्सिल ऑफ इंडिया (एम.सी.आई.) ने इनपर 10 घंटे की पढ़ाई भी नहीं होने दी। यह जानकारी तो उन्हें अपने परिवार व सामाजिक जीवन से मिली, और कुछ मरीजों के अनुभव से।

## ऐलोपैथी तन्त्र द्वारा भूलसुधार

लोक ज्ञान को अवैध मानने की मानसिकता के कारण बीसवीं सदी में गलतियाँ हुई हैं। और, अब ऐलोपैथिक विज्ञान तन्त्र भी इन्हें मान रहा है। दो-एक उदाहरण स्पष्ट हैं।

## उल्टी-दस्त में पुनर्जलीकरण व इलाज

गरीब देशों व समुदायों में उल्टी-दस्त बच्चों की मृत्यु का प्रमुख कारण रहा है और आज भी है। डॉक्टरों व स्वास्थ्य विशेषज्ञों ने सबसे पहले माँओं की 'गैर-जानकारी' व गलत तौर-तरीकों पर निशाना साधा और कहा कि वह इलाज दिलवाने में देर कर देती हैं व बच्चे को पानी-खाना-दूध देना बन्द कर देती हैं, इसलिए बच्चे मरते हैं। बच्चे जल्दी हमारे पास लायें तो हम ऐंटीबायॅटिक व खून में बोतल बंद पेय देकर उन्हें बचा सकते हैं। कितनी माँओं ने इस नाम पर कितनी डाँट और कितनी बेइज़्ज़ती सही है, यह वे ही जानती हैं। फिर सत्तर के दशक में विश्व स्वास्थ्य संगठन के बंगलादेश सेंटर में 'इजाद' हुआ 'पुनर्जलीकरण पेय', जो कि स्वास्थ्य के क्षेत्र में शताब्दी की सबसे बड़ी क्रांतिकारी खोज मानी गई। खोज यह थी कि अधिकांश उल्टी-दस्त के मरीजों में बीमारी स्वतः ठीक हो जाती है, बस शरीर को निर्जलीकरण से बचाना ज़रूरी है व बच्चे के पोषण का ध्यान रखना जरूरी है। ऐंटीबायॅटिक की आवश्यकता नहीं होती और लोमोटिल जैसी दवाएं तो उल्टा नुकसान करती हैं, क्योंकि वे कीटाणुओं को बाहर नहीं निकलने देतीं और बीमारी ज्यादा लम्बी चल जाती है।

'पुनर्जलीकरण पेय' का ऐसा तरीका तैयार किया गया 'जो मां' खुद कर सकें। तो बोतल चढ़ाने के बजाय पैकेट में घोल के लिए विभिन्न प्रकार के नमक का मिश्रण तैयार किया गया और उसे उबले पानी में सही मात्र में घोल कर पिलाने की माँओं को सीख दी गई। अगर पैकेट न मिल सके तो उन्हें एक चुटकी नमक और चीनी का घोल बनाने की विधि भी सिखाई गई। पुनर्जलीकरण

के इस अभियान से सीख मिली कि बच्चों का पुनर्जलीकरण से मरना तो कम हो गया परन्तु वे कुपोषण का शिकार हो गए। तब परम्परागत पुनर्जलीकरण पेय की ओर ध्यान गया, जैसे कि चावल का पानी, नारियल पानी और पतली खिचड़ी इत्यादि। तो फिर अभियान शुरू हुआ माँओं को उनसे छुड़वाए हुए घरेलू पेय का उपयोग दोबारा उन्हें सिखाने का!

तब से यह विवाद बार-बार उभरता रहता है कि बोतल चढ़ाना बेहतर है? क्योंकि वह डाक्टर के नियंत्रण में है या पेय द्वारा पुनर्जलीकरण? पेय में पैकेट बेहतर है या नमक-चीनी का घोल या परम्परागत पेय? मैंने अस्सी के दशक में गोरखपुर के गाँव घूमते हुए जो देखा था उससे बेहतर पेय कहीं नहीं पाया - वहां महिलाएं गुड़-सौंफ का काढ़ा बनाकर पिलाती थीं - गुड़ जो अनेक प्रकार के लवण व चीनी का भंडार है, और हल्दी तो अब विश्व-प्रख्यात संक्रामक रोगों की काट मानी जाती है तथा सौंफ पाचक है। परन्तु तब वहां की डाँट खाई महिलाएं संकोच से ही यह नुस्खा बताती थीं।

चावल के पानी, पुनर्जलीकरण पैकेट से पेय, डॉक्टर की दवा और बोतल, अलग स्थितियों में अलग-अलग जरूरी हैं। इसलिए सभी आवश्यक हैं। किस तरीके का कब और कैसे इस्तेमाल हो, तर्कसंगत व्यवस्था में इसे जानने-समझने की क्षमता होनी चाहिए। साथ ही बीमारी की रोकथाम के लिए मुख्यतः साफ पानी, शौच का इन्तजाम, पोषण आदि पर ध्यान रहना चाहिए।

## महिला स्वास्थ्य और अस्तित्व

महिला स्वास्थ्य का आज के प्रचलित शब्दकोष में मतलब हो गया है प्रजनन तन्त्र सम्बन्धी स्वास्थ्य। 'रीप्रोडक्टिव एंड चाइल्ड हेल्थ' कार्यक्रम के तहत ही महिला स्वास्थ्य को देखा जा रहा है। इस प्रकार आधुनिक स्वास्थ्य व्यवस्था महिला के अस्तित्व को मातृत्व से जोड़ कर ही देख रही है। युवतियों के स्वास्थ्य पर ध्यान गया ताकि उन्हें 'मातृत्व के लिए तैयार कर सकें' और इसलिए उन्हें आँगनवाड़ी से पोषण व आयरन की गोली दी जाने लगी। महिला आंदोलन समूहों के विरोध के बावजूद, और 'महिला सशक्तीकरण' के वर्तमान विकास के प्रमुख नारे के बावजूद यह व्यवस्था सशक्तीकरण की सोच को सामाजिक जकड़न से निकाल नहीं पा रही, शायद इसीलिए कि वह खुलेपन और गैर-बाज़ार की व्यवस्थावाली मानसिकता से नहीं, बल्कि केन्द्रित ज्ञान व स्थापित तन्त्र की पकड़ को ही उचित मानती है।

## सामाजिक रिश्ते को मज़बूत करने की स्वास्थ्य तकनीक

कई परम्पराओं में एक व्यापक परम्परा है बुआ द्वारा स्तन की सफ़ाई करने के बाद ही नवजात शिशु को माँ का दूध पिलाना। इसे पितृसत्तात्मकता का प्रतीक माना जा सकता है, परन्तु वह ससुराल में हमउम्र महिला से जिम्मेवारी के साथ रिश्ता प्रगाढ़ करने का तरीका भी है।

साथ ही पहले बुआ बच्चे को शहद चटाती है। कितनी बार मैंने इस प्रथा का प्रतिवाद होते सुना है। अस्पताल में नर्सों और डॉक्टर को ताना मारते अक्सर सुना है - 'यह भी शहद लेकर आ गई' और फिर बेइज़्ज़ती से डाँट। आज आधुनिक विज्ञान बताता है कि शहद, संक्रमण से सबसे सुरक्षित ही नहीं, वह अपने आप में संक्रमण विरोधी गुण भी रखता है। परन्तु नर्स-डाक्टर यही मानते हैं कि इसे चटाने से बच्चे को संक्रमण से उल्टी-दस्त होने लगेगा।

## दाई, जाति प्रथा और 'गन्दा काम' व मातृ मृत्यु

सबसे बड़ी जंग जो आज लड़ी जा रही है वह है मातृ मृत्यु-दर कम करने की। सभी महिलाओं को 'सुरक्षित' मातृत्व के लिए अस्पताल या स्वास्थ्य केन्द्र में ही बच्चा पैदा करना चाहिए - इसी मुहिम के जरिए जननी सुरक्षा योजना व जननी शिशु सुरक्षा कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं - जिनके तहत हर जच्चा को जो मेडिकल संस्था में बच्चा कराए सरकार की तरफ से आने-जाने का व अन्य सभी खर्च दिये जाते हैं और अन्य मुफ्त सेवाएं भी। सरकारी आंकड़ों के अनुसार इस कार्यक्रम के आठ-नौ साल बाद भी लगभग 30 प्रतिशत बच्चे घर पर ही पैदा हो रहे हैं। विभिन्न शोध दिखाते हैं कि स्वास्थ्य केन्द्रों व अस्पताल में भी दाइयाँ प्रजनन में आज भी मदद कर रही हैं। घर में जो जन्म हो रहे हैं उनमें तो वह रहती ही हैं।

आधुनिक स्वास्थ्य व्यवस्था उन्हें व उनके ज्ञान को कैसे देखती है, अन्य समाज उसे कैसे देखता है, और वह खुद कैसे देखती हैं?

बीसवीं सदी की शुरूआत से मातृ-मृत्यु कम करने के लक्ष्य से दाइयों को ट्रेनिंग दी जाने लगी। उन्हें बताया गया कि साफ-सफाई कैसे रखी जाए और थोड़े भी खतरे का लक्षण होने पर मांओं को डाक्टर के पास भेजें। डॉक्टरी स्वास्थ्य व्यवस्था बहुत ही अपर्याप्त होने के कारण यह मजबूरी का उपाय अपनाया गया। दाई को अनपढ़, गंवार और संक्रमण का स्रोत ही माना गया। उनका भी कोई ज्ञान व उनके हाथ में हुनर है, यह सोचा ही नहीं गया।

और, हर मातृ-मृत्यु को दाईयों की वजह से देरी या उसके द्वारा अपनाई गई गलत प्रक्रिया का परिणाम माना गया।

यह सोच महिलाओं के अनुभव व दाइयों के साथ हुए शोध की जानकारी से बिल्कुल तालमेल नहीं खाता। दाइयों को प्रजनन के बारे में जानकारी और दिक्कत होने पर उसको हल करने का हुनर है। कोई दाई ज्यादा जानकार होती है, कोई कम। आजकल कुछ ऐसी समस्याएं होती हैं, जिन्हें ऑपरेशन के बिना या खून चढ़ाए बिना हल नहीं किया जा सकता और वह जानलेवा होती हैं। ऐसे में दाई से लेकर अस्पताल तक की जरूरत है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार जन्म देने के दौरान 10-15 प्रतिशत को ही इस प्रकार की कठिनाई पेश आती है। यानी 85 प्रतिशत प्रजनन सामान्यतः घर पर ही हो सकते हैं। सामान्य समस्याओं को दाइयाँ सुलझा सकती हैं और उनमें स्वास्थ्य केन्द्र या अस्पताल तक, जरूरत पड़ने पर, तुरन्त पहुंचाने व वहां सेवाएं देने की क्षमता का होना ज़रूरी है। अपने परिवेश, अपने प्रियजनों व विश्वासपात्र व्यक्तियों के बीच समय बिताना व जीवन का अपना एक महत्वपूर्ण पड़ाव पार करना महिलाओं की स्वाभाविक इच्छा होती है। दाइयों व प्रकृति के करीब समाजों की कई मान्यताएं महिला की शक्ति और प्रकृति की सहयोगी भूमिका को जोड़ती हैं।

परन्तु खतरे की मानसिकता से ग्रसित आधुनिक व्यवस्था, लोकज्ञान को जानने की कोशिश किये बिना, सब महिलाओं को खींचकर अस्पताल ले जा रही है। यह असुरक्षा का भाव बढ़ाती है, घटाती नहीं है। इस असुरक्षा के भाव द्वारा मेडिकल इंडस्ट्री अपना वर्चस्व बनाती है। फिर अपनी सुविधा और मुनाफ़े के लिए सामान्य प्रक्रिया के बजाय 'सिज़ेरियन ऑपरेशन से जन्म' की संख्या बढ़ाती जा रही है। अब मुम्बई-दिल्ली जैसे शहरों में खास 'प्रजनन बुटीक' हैं, जो बिना दर्द के ऑपरेशन द्वारा बच्चा भी करायेंगी, आपकी पसन्द के कमरे की सजावट व सुगन्ध भी देंगी और पंचांग के अनुसार 'सही' समय पर बच्चे का जन्म सुनिश्चित करेंगी। बस, चाहिए तो बैंक बैलेंस। डाक्टरी ज्ञान के अलग तन्त्र और उपभोगवाद के बीच के तार गांधीजी ने 'हिंद स्वराज' लिखते समय 1909 में ही देख लिये थे।

मुझे याद आती है राम प्यारी, एक राजस्थानी महिला जो दिल्ली में निर्माण मज़दूर का काम करने आती थी। उसने बताया था कि जब उसके बच्चे गांव में हुए थे, वह दर्द शुरू होने पर जंगल में चली जाती थी। उसे वहां एकान्त में

पेड़-पौधों के बीच शान्ति मिलती थी। जब दर्द बढ़ जाता तो वापिस घर आकर दाई को बुलवा लेती। उसके तीनों बच्चे वहां आसानी से हो गए थे। दिल्ली में झुग्गी-झोपड़ी बस्ती में भी उसने दाई को बुलवाकर बच्चा जना, पर उसके मन में वैसा विश्वास और शान्ति नहीं रही। वह लापरवाह औरत नहीं थी। उसने बच्चा होने के छः महीने बाद तक काम नहीं किया, 'ताकि माँ और बच्चा दोनों की ताकत बन जाए'। और, यह भी तब जब वह गाँव छोड़कर वहाँ कमाने के लिए ही आयी थी, पर दोनों के स्वास्थ्य की खातिर उसने अपने सिर पर कर्ज़ा चढ़ाना कबूल किया, काम पर जाना नहीं।

''गंदा काम छोड़ने की लड़ाई'' चमार जाति ने 1920 के आस-पास लड़ी थी। चमड़े का काम तो छोड़ दिया, पर महिलाओं ने दाई का काम नहीं छोड़ा, इसलिए कि उन्हें इस काम के बदले समाज में एक महत्व का स्थान मिलता है।

तो वैध ऐलोपैथी ज्ञान के वैध डाक्टर भी बहुलतावाद को मान रहे हैं, आम लोग भी उसे जी रहे हैं। फिर भी बहुलतावाद को औपचारिक वैधता नहीं मिल रही। सवाल है कि इस दोगलेपन को हम अपने समाज में क्यों पाल रहे हैं? फायदेमंद और लोकशक्तीकरण के स्रोत वाले ज्ञान को अवैध क्यों बना बैठे हैं? मान लें कि 1940-50 के दशकों में अंधविश्वास भी व्याप्त था और टी.बी. की दवाओं, मलेरिया के लिए दवाओं व कीटनाशक इत्यादि द्वारा उम्मीद बंधी थी कि मेडिकल ज्ञान व तकनीक द्वारा देश की प्रमुख स्वास्थ्य समस्याओं का समाधान पाया जा सकता है? क्या इसलिए परम्परागत पद्धतियों को नज़रअंदाज़ किया गया? परन्तु अब, छः-सात दशकों के अनुभव के बाद हम उसकी कमियां भी जानते हैं। ज्ञान की वैधता की कसौटियों को अगर अब भी हम औपनिवेशक और व्यापारिक चश्मों से ही देखेंगे तो समाज व उसके स्वास्थ्य की नींव मजबूत कैसे बनेगी? आत्म-विश्वास सहित विभिन्न ज्ञान पद्धतियों, जिसमें परम्परागत और आधुनिक पश्चिमी व स्थानीय, दोनों शामिल रहें, की ताकत का विश्लेषण करके आज के समाज के लिए एक मौजू अंतर्जात-अन्तः विकसित स्वास्थ्य व्यवस्था कैसे बना सकते हैं? इस ओर बढ़ने के लिए सरकार और समाज, दोनों की अलग-अलग क्या भूमिका हो सकती है, और दोनों के बीच कैसा तालमेल बने?

## 'सबके लिए स्वास्थ्य' का नया मॉडलः ज्ञान स्वराज की ओर

आज भी हमारे यहां विविध परम्पराएं जीवन्त हैं, इसलिए यूरोप व अमरीका के मुकाबले हमारे देश में 'सबके लिए स्वास्थ्य' का जुदा या अलग मॉडल ज्यादा आसानी से संभव है। यह नया मॉडल कम खर्च, पर्यावरण के अनुकूल और अधिक लोकशक्तीकरण वाला सिद्ध हो सकता है।

आम लोगों को सबसे करीब कारगर इलाज मिल सके, मेडिको फ्रेण्ड सर्कल की चर्चाओं से उभरते ऐसे मॉडल को गढ़ने के सिद्धान्त निम्नलिखित हो सकते हैंः

1. आम लोगों के तर्कसंगत व्यवहार व लोक ज्ञान से इलाज शुरू करें। जब वह पर्याप्त न हो, तभी संस्थागत सेवाओं के लिए जाएं।
2. घर और समुदाय-गाँव-बस्ती में घरेलू इलाज, लोक चिकित्सक, आँगनबाड़ी कार्यकर्ता व 'आशा' प्रथम स्तर का स्वास्थ्य संवर्द्धन करने में परिवारों की मदद करें। ग्राम स्वास्थ्य, स्वच्छता व पोषण समिति के अन्य सदस्यों सहित एक महिला-प्रधान टीम बन जाती है जो कुछ जगह प्रभावकारी काम करती पाई जा रही है।
3. इनके काम को लोक-ज्ञान की नींव पर खड़ा करने के लिए स्थानीय लोक चिकित्सकों का जड़ी-बूटी का ज्ञान महत्वपूर्ण धरोहर है। इसे संजोने व पुष्ट करने के लिए संस्थागत सहयोग की आवश्यकता है। स्थानीय ज्ञान व प्रथाओं को लिपिबद्ध कर उनकी कारगरता जाँचने व उनके लिए आवश्यक जड़ी-बूटी की उपलब्धता सुनिश्चित करने के लिए जिला स्तर पर 'जिला स्वास्थ्य स्वराज केन्द्र' बनाया जाना चाहिए। यह केन्द्र स्वास्थ्य उपकेन्द्र व प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में स्थानीय जड़ी-बूटी उगाने व उसके उपयोग को बढ़ावा देने का काम करे। साथ ही वह अन्य परम्परागत स्थानीय ज्ञान व हुनर, जैसे खेती, हस्तशिल्प इत्यादि के साथ भी तालमेल के लिए काम कर सकता है।

## सरकारी तन्त्र में लोक

'राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन' (एन.आर.एच.एम.), जो अब राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन कहलाता है, के तहत स्थानीय जड़ी-बूटी स्वास्थ्य केन्द्रों में उगाने का प्रावधान भारतीय पब्लिक हेल्थ स्टैण्डर्ड (आई.पी.एच.एस) का अनिवार्य भाग है। परन्तु किसी राज्य ने इस मानक को पूरा नहीं किया है।

'राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन' के ही तहत हर स्तर पर ऐसी व्यवस्था सम्बन्धी निर्णय लेनेवाली समितियाँ हैं जिनमें डाक्टर व प्रशासक के अलावा पंचायत, कॉरपोरेशन व असेम्बली में चुने हुए प्रतिनिधि, गैर-सरकारी संगठन व समुदाय के गण-मान्य सामाजिक व्यक्तियों के लिए स्थान सुनिश्चित है। जहां सामाजिक समूहों ने इनमें सक्रिय दखल देकर लोगों की जरूरत और नज़रिए अनुसार निर्णय करवाए हैं, वहां सेवाओं में सुधार नज़र आने लगते हैं। साथ ही सामुदायिक निगरानी और नियोजन के प्रयास भी हुए। नौ राज्यों में 'पाइलट' चलाए गए, परन्तु केवल दो में वह आगे बढ़ पाए। महाराष्ट्र और तमिलनाडु में वह स्वयंसेवी समूहों की सक्रियता की वजह से बड़े पैमाने पर सफलतापूर्वक चल पाए हैं। इसलिए व्यवस्था में हर लोकतान्त्रिक सम्भावना का पूर्ण प्रयोग करने के लिए लोग आगे आयें और संगठित प्रयास करें। स्वास्थ्य स्वराज की यह एक कड़ी होगी। इसको और कारगर तब बना पायेंगे जब लोगों के ज्ञान में भी विश्वास बनेगा।

## ज्ञान स्वराज आधारित स्वास्थ्य व्यवस्था की चुनौतियां व आवश्यकताएं

1. पहली चुनौती है आज की डाक्टरी विशेषज्ञ आधारित मानसिकता, जिसके कारण प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार व स्थानीय स्वास्थ्य परम्पराओं को उनमें जोड़ना मुश्किल हो गया है। इसके लिए स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं, नर्सों व डाक्टरों को परम्परागत पद्धतियों व स्थानीय परम्परागत जड़ी-बूटी इत्यादि का महत्व समझना होगा, ताकि सभी ज्ञान का अधिकतम फायदा सबको मिले। इसके लिए लोगों को डाक्टरों व विशेषज्ञों पर बनती निर्भरता को भी कम करना होगा, क्योंकि इस निर्भरता में भी गैर-जरूरी खर्च बढ़ने के साथ-साथ स्वास्थ्य पर नकारात्मक असर बढ़ते हैं और जिनको असल में विशेषज्ञ सेवाओं की ज़रूरत होती है, वह उनसे महरूम रह जाते हैं।
2. अपने शरीर को समझकर स्थानीय घरेलू इलाज, ऋतु-चर्या और दिनचर्या इत्यादि परम्परागत ज्ञान को फैलाने से निर्भर मानसिकता कम हो सकती है। इसके लिए कई कदम उठाए जा सकते हैं; जैसे कि 'जिला स्वास्थ्य स्वराज रिर्सोस सेन्टर' बनाकर जो स्थानीय घरेलू इलाज जड़ी-बूटी व लोक चिकित्सक सम्बन्धी जानकारी इक्ट्ठी कर उसको शास्त्रीय परम्परागत

ज्ञान की कसौटी पर परखना व प्रोत्साहन देना। ऐसा न करने से खतरा है कि यह ज्ञान इस पीढ़ी के साथ खत्म हो जाए।

3. जड़ी-बूटियों की उपलब्धता सुनिश्चित करने के लिए स्थानीय उत्पाद इस प्रकार बढ़ाया जाए कि उसकी चिकित्सकीय गुणवत्ता बनी रहे। शहरों में जगह-जगह जड़ी-बूटी उगाकर उपलब्ध कराना एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम हो सकता है। स्कूलों में भी यह उगाई जा सकती हैं व बच्चों को उनके इस्तेमाल की जानकारी दी जाए।

4. चौथी चुनौती आएगी सामाजिक बीमा योजनाओं के कारण चिकित्सा सेवाओं में अनेक विकृतियां पैदा होने की। यह दुनिया भर का अनुभव है, न कि केवल भारत में प्रचलित ऐसी वर्तमान योजनाओं का। इसलिए इन विकृतियों को समझकर इनके समाधान को व्यवस्था में जोड़ना होगा।

5. पांचवी चुनौती है बजट की। अगर सभी को डाक्टरी व अन्य पद्धतियों की सेवाएं सुनिश्चित करानी हैं तो लगभग 5 से 10 गुना अधिक बजट चाहिए होगा। अभी के बजट में प्रति व्यक्ति केवल 250 रुपये (लगभग 4 अमरीकी डालर) सालाना खर्च किया जाता है। बाकी खर्च लोग अपनी जेब से करते हैं। सरकारी सेवाओं के साथ-साथ अगर सरकार प्राइवेट सेवाओं के लिए भी खर्च उठाएगी तो बजट और भी बढ़ाने की आवश्यकता पड़ सकती है, जैसाकि अमेरिका का अनुभव दिखाता है, तो बजट 5-10 नहीं, बल्कि 100 गुणा बढ़ाना पड़ेगा।

6. छठी चुनौती है ग्रामीण इलाकों में सेवाओं की गुणवत्ता की। पंचायत को साथ लेकर, लोगों द्वारा सामुदायिक निगरानी का तरीका आज़माया जा चुका है और व्यापक कार्यान्वयन की ज़रूरत है।

7. अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दवाओं के क्षेत्र में डब्ल्यूटीओ (W.T.O.) एक चुनौती है। इसके लिए सरकार अन्य विकासशील देशों के साथ खड़ी है ताकि हमारी दवा इंडस्ट्री जो जिम्मेदारी निभाती आई है उसे जारी रख सकें। हमारी फार्मास्यूटिकल इंडस्ट्री कम दाम पर दवाएं उपलब्ध कराती आई है, हमारे देश में ही नहीं, अन्य गरीब देशों में भी। ऐसे प्रावधान अपनाने होंगे जो इस कार्य को बढ़ावा दे सकें।

8. और आखिरी चुनौती है स्वास्थ्य सेवाओं के साथ-साथ सामाजिक व

पर्यावरणीय परिप्रेक्ष्य की। सामाजिक माहौल सौहार्द्रपूर्ण हो, मानसिक तनाव कम हों, स्वस्थ वातावरण हो जिससे रसायनिक प्रदूषण कम हो जाए, यानी ऐसी विकास नीतियां गढ़ने की आवश्यकता है जो सभी के स्वास्थ्य व खुशहाली पर केंद्रित हों; आर्थिक विकास तब इसका सार्थक माध्यम होगा।

इस प्रकार, स्वास्थ्य, स्वावलम्बन व स्वस्थ जीवन की ओर हर भारतवासी बढ़ेगा तो स्वास्थ्य संवर्द्धन की ठोस सामूहिक नींव पर व्यवस्था बनेगी।

## ज्ञान स्वराज और महिला समूह

सामुदायिक स्तर पर हाल के वर्षों में दो महिला समूहों द्वारा स्वास्थ्य ज्ञान स्वराज के दो सफल प्रयासों के प्रेरणादायक उदाहरणों से मैं अपनी बात को विराम दूँगी।

## 'अपनी रसोई'

दिल्ली की गरीब बस्तियों में 1975 से कार्यरत 'सबला संघ' व ऐक्शन इण्डिया ने 1984 में महिला स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं का समूह तैयार किया था। उन्होंने माता एवं शिशु स्वास्थ्य पर स्वयं सहयोग समूह बनाने के अलावा सरकारी अस्पतालों में गरीब महिलाओं के साथ बेहतर सुलूक के लिए तालमेल बिठाने, अधिकारियों को उनकी समस्याओं से अवगत करवाने, बस्ती में हैज़ा फैलने पर रोकथाम के कदम व 1984 के सिक्ख विरोधी दंगों में शान्ति का प्रयास आदि के कार्य किये। अन्य कामों के साथ-साथ उन्होंने 'अपनी रसोई' के नाम से विभिन्न घरेलू इलाज व पोषण के परम्परागत तरीके महिलाओं में फिर से प्रतिष्ठित करने का कार्यक्रम चलाया। साथ ही अनेक चूर्ण इत्यादि बनाकर समुदाय में मूल दाम पर उपलब्ध भी कराया। महिलाओं की जानकारी स्वतः उभरने लगी और 'अपनी रसोई' समग्र होती गई। हालांकि यह कार्यक्रम अन्य काम के दबावों के चलते बन्द हो गया, अपने छोटे कार्यकाल में ही उसने महिलाओं के उत्साह व सुप्त ज्ञान को उजागर किया। घर की रसोई को फिर से स्वास्थ्य का मूल आधार बनाने की ओर महिलाओं को सशक्त किया।

## 'नम्म आरोग्य नम्म कायी अल्ली' ('हमारा स्वास्थ्य हमारे हाथ में')

दूसरा उदाहरण है कर्नाटक के रायचूर जिले के ग्रामीण अंचल का जहाँ 'जागरूक महिला संगठन' (जे.एम.एस.) का गठन सन् 2000 में हुआ। दलित

महिला खेतिहर मज़दूरों के इस संगठन की नींव टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेज़ से निकले कुछ मास्टर ऑफ सोशल वर्क के छात्रों के सहयोग से रखी गई। 'संघर्ष' और 'नवनिर्माण' के दो आधार स्तम्भों से वह दलितों व महिलाओं के मूल अधिकारों व सरकारी कार्यक्रमों के सही कार्यान्वयन पर कार्यरत थे। इसी के तहत सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं में सही व इज्ज़तपूर्ण सेवाएं पाने के प्रयास भी किए गए। साथ ही स्वास्थ्य कर्मियों की अपनी टीम भी बनाई। 'गिद्द मूलिके औषधि' यानी जड़ी-बूटी का इलाज उस इलाके की संस्कृति का परम्परागत हिस्सा रहा है, परन्तु ऐलोपैथी के आने के बाद दब गया था। इस समूह ने तय किया कि इसके स्वास्थ्य कर्मियों को परम्परागत ज्ञान को दोबारा आगे लाना चाहिए। उन्हें कई प्रशिक्षण व अन्य परम्परागत स्वास्थ्य पर काम कर रहे संस्थानों के काम से सीखने के लिए वहां ले जाया गया। अपने शरीर व समुदाय के स्वास्थ्य की देखभाल व आम स्वास्थ्य समस्याओं को समझने के साथ अधिकारों, मानसिक स्वास्थ्य व सामुदायिक खुशहाली की भी समझ बढ़ाई गई। धीरे-धीरे ये स्वास्थ्यकर्मी खेतिहर मज़दूरों की आम समस्याओं की देखरेख करने लगे। प्रयोग व प्रयास करके उन्होंने कई सफल इलाज किए जिससे उस इलाके में उनका नाम हो गया। केमिकल खेती से हाथ व पैर में चमड़ी के रोग आम थे। उन्होंने नीम और हल्दी का एक तेल बनाया व साथ में चिरैता की दवा भी। खाने के परहेज़ भी उन्हें स्पष्ट हो गए थे। इस तरह के सफल उपचार से इलाके में उनकी काफी ख्याति फैल गई। दूसरी बड़ी सफलता मिली जोड़ों और मांसपेशियों के इलाज में। इस सफलता के कारण उनके पास डाक्टरों द्वारा इलाज कराके हारे हुए लकवा के केस आने लगे। अपने ज्ञान व सूझ-बूझ के आधार पर उन्होंने स्थानीय जड़ी-बूटी वाले तेल की मालिश शुरू की और साथ ही पिलाने को कुछ काढ़ा। धीरे-धीरे मरीज़ को कसरत करवाने लगे। इस तरह उन्होंने कई लकवे के मरीज़ों को खड़ा कर दिया।

महिलाओं में अनीमिया व कमज़ोरी आम बात है। जे.एम.एस. की स्वास्थ्यकर्मी सुआन्जने की पत्ती व आँवले का सत्त बनाकर देती हैं। परन्तु इतना ही नहीं, वह साथ में महिला की अन्य घर, काम, मन सम्बन्धी समस्याओं को भी समझती हैं, उन पर भी बात करती हैं। मानसिक परेशानी व शारीरिक कमज़ोरी के आपसी प्रभाव को समझकर यह महिलाओं की कई समस्याएं समग्रता से समझने-सुलझाने के प्रयास करती हैं।

इन 15 वर्षों में एक मज़बूत टीम की परम्परागत ज्ञान को पुनर्जीवित करने में रूचि व उपलब्धियाँ गहरी हुई हैं। परन्तु साथ ही अन्य दबावों व जरूरतों के चलते वह प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र की व्यवस्था बेहतर बनाने के लिए भी कार्यरत रहीं। 'नम्म आरोग्य नम्म कायी अल्ली' यानी 'हमारा स्वास्थ्य हमारे हाथ में' उनका नारा है।

## स्वास्थ्य संवर्द्धन : समय का तकाजा

शायद उन्नीस सौ सत्तर और अस्सी के मुद्दों व प्रयासों पर फिर गौर करने का समय आ गया है। परम्परागत स्वास्थ्य ज्ञान के संबंध में फर्क यह आ गया है कि एक प्रवाह मुख्यधारा में भी उसके समर्थन में व उसके सिद्धान्तों को अपना रहा है। खतरा यह है कि इस मौके का इंडस्ट्री ही फ़ायदा ले जाए। 'हेल्थ टूरिज़्म' का बाज़ार बड़े शहरों व पर्यटक स्थलों पर गर्म है। विश्व का दवा उद्योग परम्परागत प्राकृतिक औषधियों से दवाएं बनाने को प्रयासरत है। इस बढ़ती माँग के चलते औषधीय पौधे पहाड़ों-जंगलों से लुप्त होने लगे हैं। स्पष्ट है कुछ नियोजित ढंग से देशव्यापी व स्थानीय पहल अतिआवश्यक है।

2014 में चुनी गई केन्द्रीय सरकार ने 'राष्ट्रीय आयुष मिशन' की घोषणा की और 5400 करोड़ रुपये के कार्यक्रम की संरचना हुई। परन्तु बजट में मिला केवल 300 करोड़! यानी कोई मिशन नहीं, सामान्य सेवाएं भी बमुश्किल चल पायेंगी। परन्तु कई राज्य सरकारें अब इन पद्धतियों को बढ़ावा दे रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 21 जून को 'विश्व योग दिवस' घोषित किया गया है। दुनिया के कई प्रमुख चिकित्सा विज्ञान की शोध-संस्थाएं परम्परागत ज्ञान पर शोध कर रही हैं। ज़रूरत है हमें इस वातावरण को लोकशक्तीकरण के लिए प्रवाहित करने का। लोकज्ञान की वैधता को पुनर्प्रतिष्ठित कर पायें तो एक बहुलतावादी ज्ञान संस्कृति खुद-ब-खुद प्रस्फुटित होकर फलने-फूलने लगेगी। तब नीचे से ऊपर तक व्यक्ति, समुदाय व समाज में स्वास्थ्य संवर्द्धन की सम्भावना बनने लगेगी। ■

**चतुर्थ नूतन स्मृति व्याख्यान**
(22 अक्टूबर, 2016, पटना)

# नारी आंदोलन और राष्ट्र

**इलीना सेन**

आज यहां आने पर, आप लोगों के साथ एक साथ रहने पर, मैं खूब आनन्दित हूं। साथ ही, आप लोगों को मैं यह भी बता दूं कि मैं थोड़ा नर्वस हूं। नर्वस इसलिए हो रही हूं कि जिन विषयों को लेकर मैं आज आप लोगों के साथ विचार-विमर्श करने की चेष्टा करूंगी, उन्हें लेकर मैं काफी दिनों से सोचती आ रही हूं। मेरी तरह अन्य लोग भी सोच विचार करते रहे हैं। 'वूमेन मूवमेंट' यानी 'नारी आंदोलन' को लेकर मैंने इस पर समय-समय पर विभिन्न मंचों से बातें भी की हैं। लेकिन मुझे समस्या हो रही है भाषा को लेकर। बांग्ला मेरी मातृ भाषा है। घर पर हमलोग बचपन से ही बांग्ला में ही बतियाते आ रहे हैं। अपनी बेटियों के साथ मैं बांग्ला में ही बतियाती हूं। लेकिन लम्बे अर्से से बंगाल से बाहर रहने के कारण मेरी बांग्ला क्षिप्र हो गयी है। अभी मुंबई में रहने के कारण मेरे बांग्ला शब्दकोष में थोड़ी-थोड़ी हिन्दी और मराठी घुस आयी है। इसलिए मेरी भाषाई त्रुटियों को आपलोग क्षमा करेंगे। मैं जिस विषय को लेकर बात करूंगी उसे लेकर हमारे बीच मतभेद हों, तो भी इसके बावजूद, इस विषय पर बात करना अच्छा लगेगा।

## खतरनाक किस्म का युद्धकरण

आज जिस विषय को लेकर मैं बात कर रही हूं, वह है - 'नारी आंदोलन और राष्ट्र'। हालांकि भारत के बारे में ही हमलोग ज्यादातर बातें करेंगे, किंतु

'राष्ट्रतंत्र' को लेकर अलग धारणा के तौर पर एवं वह किस प्रकार काम करता है, वह भी हमारी बातचीत में आएगा। साधारण रूप से पहले जो पक्ष उभर कर आता है, वह है राष्ट्र की आंतकवादी भूमिका एवं विशेष कर कश्मीर और उत्तर-पूर्व भारत और मध्य भारत में, जहां मैंने अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत किया है। यह सारा अंचल अभी जल रहा है, राख हो रहा है और इन तमाम जगहों पर हम देख सकते हैं एक खतरनाक किस्म का 'युद्धकरण'। यहां पर हम पाते हैं - सैनिक टुकड़ियों की भारी संख्या। यहां की जनता, यहां के लोगों की सामान्य इच्छा है - ''हमलोग शांति से रहना चाहते हैं, हम नहीं चाहते हैं कि जबरदस्ती हमारी जमीनों को किसी उद्योगपति के लिए या किसी खदान के लिए अधिग्रहित कर लिया जाए। हमलोग बस शांतिपूर्ण ढंग से रहना चाहते हैं और हमलोग चाहते हैं कि जो उन्नति आ रही है उसे हम अपने जीवन के काम में लगा सकें।'' यह सामान्य-सी इच्छा और चाहत है, इसे ही आजकल 'राष्ट्रतंत्र' स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। कारण, 1990 के बाद उन्नति की जिस राह पर हमलोग आगे बढ़ चले हैं, उस पर पीछे मुड़ कर यह देखने की गुंजाइश नहीं है कि कोई गिर कर पीछे छूट गया है या कोई आहत हो रहा है या किसी को दर्द हो रहा है! इस तरफ किसी को देखने की फुर्सत नहीं है, गरज भी नहीं है।

उत्तर-पूर्व भारत के अंचलों की स्थिति भी कुछ इसी प्रकार है। 1947 में भारत स्वाधीन होने के बाद से ही जिस भारत का स्वरूप आज हमलोग देख रहे हैं वह स्वरूप गठित हुआ था। 'राष्ट्रवाद' के प्रश्न से अच्छी खासी समस्या रह गयी है। कई लोगों में राष्ट्रवाद (Nationality) के प्रश्न को लेकर अस्पष्टता है। अनेक उप राष्ट्रीयतावादी (Sub-nationalists) समूह हैं जिनके इतिहास, आंदोलन के स्वरूप, गरिमा, आजादी के संघर्ष में उनके आंदोलनों का योगदान, उनके अस्तित्व आदि-आदि सार्वजनिक स्तर पर सबके सामने राष्ट्रवादी चर्चा में (National discourse) आ नहीं सके।

जैसे कांगला दुर्ग की बात की जाए। मणिपुर के इतिहास में इस स्थान का नाम महत्वपूर्ण है - एक ऐतिहासिक गरिमापूर्ण स्थान! मणिपुर के इतिहास में इस स्थान की महत्वपूर्ण भूमिका है। लेकिन स्वाधीनता के बाद मणिपुर राज्य के गठन के बाद मणिपुर के आंदोलन को (स्वाधीन मणिपुर के लिए आंदोलन) काबू करने के लिए भारतीय राष्ट्र ने मणिपुर में सेना भेजी, तब उस अंचल में

आतंकवाद को नियंत्रित करने के मामले में आसाम राइफल ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आसाम राइफल का मुख्यालय बन गया कांगला दुर्ग। इसने भावनात्मक स्थल पर खूब चोट पहुंचाई। मणिपुरवासियों में क्रोध, असंतोष और अन्याय की मनोभावना वहां तैयार हुई।

इस प्रकार और एवं और कई प्रकार के राष्ट्रीय 'आतंकवाद' विभिन्न स्थानों पर दिखाई पड़ रहे हैं। मध्य भारत में उन्नति के नाम पर बड़ी-बड़ी कंपनियां आकर विभिन्न स्थानों पर कारखाने और खदानें खोलने की कोशिश कर रही हैं। मध्य भारत का यह अंचल जैसे छत्तीसगढ़, झारखंड, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के कुछ अंचल खनिज संपदा के मामले में अत्यंत ही समृद्ध हैं; वहां क्या नहीं है, कोयला, लोहा, यूरेनियम इत्यादि विभिन्न खनिज संपदा की प्रचुरता है वहां। उन अंचलों की ओर शनि की दृष्टि पड़ी है। बड़े-बड़े कारपोरेट उन खनिज संपदा को बाहर निकलवाने के लिए अपनी निगाहें गड़ाये हुए हैं। और, उन क्षेत्रों के आदिवासी, जो अनंत काल से वहां निवास कर रहे हैं, वे लोग सुख में हैं, दुख में हैं, आनंद से हैं, अभाव में हैं, जैसे भी हैं जंगलों के साथ समझदारी से तालमेल बैठा कर रह रहे हैं। हो सकता है कि वे लोग ठीक-ठाक नहीं हैं, फिर भी वे लोग जिंदा है और अपनी संस्कृति को जिलाए हुए हैं। लेकिन राष्ट्रवाद के राष्ट्रीय डिसकोर्स में इन चीजों का कोई स्थान नहीं है, इनकी कोई कीमत नहीं है।

## राष्ट्रवादी द्वंद्व : स्त्री-प्रतिरोध का स्थान

कश्मीर के प्रसंग में एक ही बात कही जा सकती है - कश्मीर राष्ट्रवाद को लेकर काफी विवाद है। हम आज इस विवाद में नहीं जाएंगे, किन्तु यह हम देख पाते हैं कि असंतोष बरकरार है, 'राष्ट्र' ने जिस प्रकार उनलोगों के साथ व्यवहार किया, समझौते किए जाने के बाद भी नहीं माना, मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। जिस प्रकार कश्मीर का 'सैन्यकरण' हुआ है, उसके खिलाफ आम लोगों के मन में एक तीव्र आक्रोश घर किये हुए है और ढेर दिनों से यह आक्रोश बढ़ता ही जा रहा है। जन-गण का आक्रोश नियंत्रित करने के लिए सभी प्रकार के नग्न आतंक की क्रूर भूमिका को हमलोग देख सकते हैं। इस सरकारी नियंत्रण में मुख्य निशाना बनती हैं कश्मीरी लड़कियां, उनकी देह!

पाखीबल, शोपियां जैसे नाम नारीवादी आंदोलन के लिए अच्छे-खासे परिचित स्थान हैं, क्योंकि हमलोग जानते हैं कि इन इलाकों पर दबदबा कायम

करने के लिए सेना ने बलात्कार जैसे कुकृत्य किये हैं। मणिपुर में सशस्त्र सैनिकों ने हत्या, बलात्कार और सामूहिक बलात्कार का जो तांडव किया था उसके खिलाफ विगत 15 वर्षों से ईरोम शर्मिला अनशन करती आ रही हैं। इसी किस्म की समस्त दमनकारी घटनाएं कश्मीर में भी सशस्त्र सेनाओं द्वारा एक बार नहीं, बल्कि लगातार विशेष कानून (AFSPA) के जरिये, अंजाम दी जाती रही हैं। कश्मीर पर अपना दबदबा भरा अधिकार जमाने के लिए सेना, कश्मीरी लड़कियों का बलात्कार, सामूहिक बलात्कार करती रही हैं, एक बार नहीं, बल्कि बार-बार, लगातार। साथ ही, कोई साधारण व्यक्ति भी गोली का शिकार होकर मरा, तो ये कोई 'आतंकवादी है', 'ये पाकिस्तानी हैं' कहकर गोली मार दी जाती है और उसकी लाश लावारिसों की तरह फेंक दी जाती है।

वर्ष 1959 में सशस्त्र सेना को विशेष क्षमता से लैस करने वाला कानून शुरू हुआ। इस कानून की धारा के अनुसार किसी व्यक्ति के प्रति संदेह होने पर सैन्य वाहिनी का कोई भी सैनिक उसे गोली मार सकता है; इसके लिए सैनिक को किसी प्रकार दोषारोपित नहीं किया जा सकता है, अच्छी भावना से (In good faith) संदेह गलत साबित होने पर भी सैनिक और सेना के अधिकारी दंड पाने से सुरक्षित रह जायेंगे, गोली मार कर किसी की हत्या कर देने के बाद भी वे दोषी नहीं ठहराए जा सकेंगे।

मैं और रुचिरा यहां हैं। सैनिकों को यदि यह लगता है कि हमलोग आतंकवादी हैं, तो वे हमें गोली मार दे सकते हैं। हालांकि बाद में यह प्रमाणित हो जाता है कि हमलोग कोई आतंकवादी नहीं हैं। रुचिरा NUJS (National University of Juridical Science) में पढ़ाती हैं और मैं TISS (Tata Institute of Social Science, Mumbai) में हूं। इसके बावजूद सैनिक यदि आतंकवादी होने के संदेह में हमें गोली मार कर हमारी हत्या कर दें, तब भी उन्हें कोई सजा नहीं मिलेगी। वे लोग थोड़ा दुख प्रकट कर सकते हैं, हो सकता है वे ऐसा न भी करें।

'सशस्त्र वाहिनी विशेष क्षमता कानून' की धारा के अनुसार, जिसमें माफी या छुटकारा दिये जाने का प्रावधान है, उसके लिए काफी कीमत चुकाई गयी है। शोपियां में 6 महिलाओं के साथ सामूहिक बलात्कार किये जाने के बाद उनकी हत्या करके उनकी क्षत-विक्षत लाशों को नाले में फेंक दिया गया था। बाद में दावा किया गया कि उन औरतों की मृत्यु दुर्घटना में ही हो गयी थी।

विभिन्न मानवाधिकार संगठन और कई सारे पत्रकार शोपियां गये थे। उनलोगों ने छानबीन करके पता लगाया था कि शोपियां की घटना के बारे में सेना वाहिनी का वक्तव्य सही नहीं था। अखबारों के जरिये इस बाबत खबरों के माध्यम से उनलोगों ने तथ्य उजागर किए थे। इसके बावजूद शोपियां में सैनिकों के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की गयी।

पाख्रीबल में एक जांच शुरू हुई थी। वहां सेना ने सामान्य ग्रामीण नागरिकों को गोली मार कर हत्या कर दी थी। बाद में सेना वाहिनी ने दावा किया था कि सीमा पार से आतंकवादियों के साथ हुए संघर्ष में वे लोग मारे गए थे। जनता के विक्षोभ के कारण सरकार ने सीबीआई को इस घटना की जांच का निर्देश दिया था। सीबीआई ने जांच करके बताया था कि इस घटना की स्वतंत्र जांच करने के लायक ढेर सारी वाजिब वजहें हैं एवं इस घटना की स्वतंत्र रूप से जांच होनी चाहिए। किंतु अंततः सेना वाहिनी ने इसकी जांच बंद कर दी। सेना वाहिनी ने स्वयं ही इस घटना की जांच कुछ दिनों तक करते रहने का स्वांग किया था। बाद में उपयुक्त तथ्यों का अभाव बताते हुए जांच बंद कर दी। फलस्वरूप लोगों की हत्या किये जाने के बावजूद किसी को दंडित नहीं किया गया। साधारण लोगों के खिलाफ, देश के नागरिकों के खिलाफ 'सैन्यकरण' पहले भी था और आज भी है।

## लोकतांत्रिक राष्ट्र अग्रगामी होता है

'राष्ट्र' की भूमिका की विवेचना करते हुए ये बातें बार-बार उभर आती हैं एवं मुझे यह प्रतीत होता है कि हमलोगों का इस मुद्दे पर सोच-विचार करना श्रेयस्कर होगा। हमलोगों के अपने देश-राष्ट्र का, तमाम अकर्मण्यता के बावजूद, अन्य किसी धर्मतांत्रिक राष्ट्र की तुलना में एक विराट सकारात्मक चरित्र यह है कि यह कोई खास धर्म केंद्रित नहीं है - यह उन्नत अग्रगामी यानी प्रगतिशील चरित्र का है। यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है जब हम अपने राष्ट्र के अनुभव की तुलना अपने पड़ोसी देश के साथ करते हैं। हमलोगों के पड़ोसी राष्ट्र जैसे, पाकिस्तान, बांग्लादेश में जो घटनाएं घटित हो रही हैं, वहां हमलोग देखते हैं कि उन राष्ट्रों के चरित्र हमारे देश के राष्ट्रीय चरित्र जैसा बिल्कुल नहीं हैं। उन देशों में जिस प्रकार उन्नति हुई है, अपने इतिहास में उनलोगों ने महिलाओं को कहां खड़ा कर दिया है, महिला आंदोलन ने उसका किस ढंग से जवाब दिया है, इन उदाहरणों को देखने की जरूरत है। इसीलिए इस राष्ट्रीय चरित्र के प्रश्न

पर हमलोग आज बात करेंगे। हमें यह बात माननी होगी कि हम उन लोगों से थोड़ा उन्नत हैं। विभिन्न कांडों और हजार गफलत रहने के बावजूद हमारा देश एक लोकतांत्रिक गणराज्य है, किसी भी धर्मतांत्रिक राष्ट्र से उन्नत राष्ट्र है। आज की परिस्थिति में इस सत्य को स्वीकृति देनी होगी और इसे बचाए रखना होगा। इसे बचाए रखने के लिए हमें जिस कर्त्तव्य का निर्वहन करना होगा, उसमें किसी तरह की कोताही से बचना होगा। हमलोगों को अपने राष्ट्र के और इसके इतिहास के अवदान को गुरुत्वपूर्ण ढंग से जेहन में रखना होगा।

हालांकि मैंने पश्चिम बंगाल में इस बाबत नहीं सुना है, लेकिन हरियाणा, पंजाब, उत्तर भारत और उत्तर-पश्चिम भारत में विभिन्न स्थानों पर 'खाप पंचायत' के माध्यम से हम देखते हैं कि धर्मतांत्रिक राष्ट्र की चाल और चरित्र किस प्रकार का हो सकता है! 'खाप पंचायतें' महिलाओं के खिलाफ नाना प्रकार के फरमान जारी करती हैं। भिन्न जाति या भिन्न संप्रदाय के बीच संबंध स्थापित नहीं किए जा सकते हैं - 'खाप पंचायत' की तरफ से यह आदेश जारी किया जाता है। इसके बावजूद, इस 'आदेश' की अवहेलना करके यदि कोई लड़का या लड़की आपस में संबंध बनाने का दुःसाहस करते हैं और रिश्ते में आबद्ध हो जाते हैं, तो ऐसा दुःसाहस करना समाज या जाति द्वारा कायम 'आदर्श आचार संहिता' का उल्लंघन माना जाता है और सहजता पूर्वक उन दोनों के लिए मृत्युदंड का फरमान जारी कर दिया जाता है। अधिकांश मामलों में पुलिस पहुंचने में देरी करती है। दूसरी तरफ भारत में जो प्रशासनिक संरचना है वह अधिकांश मामलों में इस 'सांस्कृतिक' मान्यता में हस्तक्षेप नहीं करना चाहती। विभिन्न कारणों से ऐसी घटनाओं को रोका नहीं जाता। ऐसी घटनाओं को रोका नहीं जा सकता, ऐसा नहीं है, बल्कि उन्हें रोका नहीं जाता। आज भी जब उत्तर प्रदेश में वोट के समय एक राजनैतिक नेता अबू आजमी बोलता है - 'यदि किसी महिला की स्वेच्छा या अनिच्छा से पर पुरुष के साथ संबंध हो जाए तो उसे फांसी के तख्ते पर लटका देना उचित है।' ऐसा सुन कर कोई विस्मय नहीं होता। इस किस्म की अस्वीकार्य अतिवादी राय 'लोकतांत्रिक राष्ट्र' अथवा राष्ट्र जाति (नेशनल कम्यूनिटी) के मार्गदर्शन में बाहर आती है। आज हमलोग एक विशेष परिस्थिति का सामना कर रहे हैं। सामने लोकसभा में बहुमत-प्राप्त (2014) सरकार है। इसे लेकर हमलोग विभिन्न प्रकार की बात कर रहे हैं। कुछ लोग विभिन्न किस्म की आशंका प्रकट कर रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में धर्मतांत्रिक राष्ट्र का क्या रूप

होगा, वे लोग महिलाओं के मुद्दे को किस प्रकार देखेंगे, किस प्रकार कानून-व्यवस्था का रख-रखाव करेंगे, इसका किंचित आभास हम लोगों को मिल रहा है। और, तब लोकतांत्रिक भारत की संरचना को सुदृढ़ बनाये रखना कहीं ज्यादा चुनौतीपूर्ण होगा; लोकतांत्रिक संरचना को उन्नत करने की आवश्यकता और दायित्व पहले से ज्यादा बढ़ जाएगी।

## इतिहास के परिप्रेक्ष्य में भारतीय नारी आंदोलन

यहां महिला आंदोलन के पक्ष से थोड़ा इतिहास - स्वाधीन भारत के इतिहास - पर विहंगम दृष्टिपात करना समीचीन होगा।

स्वाधीनता के पूर्व (वर्ष 1941-45) और इसके बाद पचास-साठ या सत्तर के दशक के स्वाधीन देश की इतिहास-यात्रा करते हैं, तो इसे हम खूब आशा के साथ शुरू करते हैं।

हमलोगों ने देखा है कि स्वाधीनता आंदोलन की विभिन्न धाराओं के साथ महिला आंदोलन किस प्रकार संलग्न था - चाहे वह गांधीवादी आंदोलन हो, तेभागा या तेलांगना आंदोलन हो, किस प्रकार हर कदम पर उन्होंने कठिन संघर्ष किया, महिलाएं आयीं, संगठन में घनिष्ठ भाव से जुड़ीं, सड़क पर उतर कर आंदोलन में कंधे से कंधे मिला कर उसमें आकंठ संलग्न हुईं। एक ही समय में उनलोगों ने अपने मुद्दों का सामना किया - जैसे लड़कियां क्यों दूसरे दर्जे की नागरिक बनी रहेंगी? क्यों लड़कियां समान अधिकार नहीं हासिल करेंगी? तेभागा आंदोलन के समय जो संगठन-समूह-समितियां आदि बनी थीं, वहां से यह सवाल उठा था कि लड़कियां क्यों मार खायेंगी? हमारे पति लोग, हमारे परिवार के सदस्य लोग जब तेभागा आंदोलन में नारे बुलंद करते हैं, तब ये हमारे कामरेड हैं, लेकिन वही मर्द घर लौट कर हमारी पिटाई करेगा? इसे हम सहन नहीं करेंगी। हम भला यह उत्पीड़न क्यों सहन करें? राष्ट्रीय आंदोलन के क्षेत्र में भी अपने आत्मसम्मान की खातिर महिलाओं ने अलग से लड़ाई लड़ी, साथ ही अन्य मामलों में पुरुषों के साथ लड़ाई लड़ी।

देश के स्वाधीन होने के बाद द्वन्द्व या दोष-त्रुटि आदि को हमलोगों ने उतना नहीं समझा। वह था भी आशावाद का युग, स्वप्नवादी उन्माद का युग। हम महिलाओं ने चाहा था कि कानून में नारी के मान-सम्मान के पक्ष में सकारात्मक बदलाव हो। कानूनी संरचना में बदलाव हो। स्वाधीन राष्ट्र में समस्त नागरिक समान अधिकार पायेंगे, हमारी यह आकांक्षा थी, प्रत्याशा थी। संविधान ने

हमें कुछ अधिकार दिये हैं, जैसे समान रूप से मतदान का अधिकार, कानून की निगाह में प्रत्येक नागरिक एक समान है, आदि। पश्चिम के देशों में ये अधिकार हासिल करने के लिए काफी संघर्ष करना पड़ा था, ये सब हमारे अर्जित अधिकार हैं। मैं तो अपने जन्म से ही देखती हूं, जानती हूं - एक भारतीय नागरिक के रूप में मेरा समान अधिकार है, मैं शायद उन अधिकारों का उपयोग नहीं कर पा रही हूं। लेकिन अपने सामाजिक परिवेश के कारण मैं जानती हूं, मेरा यह अधिकार है।

## कानूनों के संस्कार का युग

70 के दशक में मथुरा बलात्कार की घटना घटित हुई। उस वक्त मेरी उम्र काफी कम थी। मैं उस आंदोलन में खूब सक्रिय थी, ऐसा तो मैं नहीं कहूंगी, लेकिन जब वह आंदोलन हो रहा था, तो मैं उस आंदोलन से जुड़ी हुई थी। उस वक्त नारी आंदोलन के कर्मी लोग पहले यह समझ नहीं पाये कि बलात्कार के मामले में कानूनी ढाँचे का या इस मामले में तर्क संगत ढंग से निबटने का दायरा अत्यंत सीमित था। क्योंकि फौजदारी विचार पद्धति के तहत किसी अपराध को प्रमाणित करने के लिए प्रत्यक्षदर्शी यानी गवाह की जरूरत होती है। प्रत्यक्षदर्शी के साक्ष्य के साथ आसपास के अन्य तथ्यों के आलोक में अपराध प्रमाणित करना होता है। बलात्कार के मामले में कोई प्रत्यक्षदर्शी नहीं रहता है। इस कारण, आपलोग निश्चय ही जानते हैं कि मथुरा बलात्कार के मामले में साक्ष्य प्रमाण के अभाव में अभियुक्त लोग बच निकले थे और किसी को सजा नहीं मिली। कानूनी पद्धति में इतने बड़े-बड़े फाँक थे कि ऐसा हो जाना आवश्यंभावी था। यही कारण था कि अभियुक्तों को सजा नहीं दी जा सकी। कानूनी सरंचना में वांछित बदलाव लाने के लिए यहीं से नारी आंदोलन की एक लहर तैयार हुई। कानूनी संरचना में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार के बदलाव लाये जाने की मांग उठने लगी।

बलात्कार कानून एवं दहेज संबंधी कानून में बदलाव की जोरदार मांग उठी। दहेज देने को शांतिमूलक अपराध माने जाने की माँग की जाने लगी। दहेज दिये जाने का प्रचलन तो समाज में था ही, किन्तु समाज में 60-70 दशक में दिल्ली में दहेज की माँग की घटनाओं में बेतहाशा वृद्धि होने लगी। स्कूटर देना होगा, कार देनी होगी, व्यवसाय शुरू करा देना पड़ेगा, आदि-आदि। शादी हो जाने के बाद दहेज की मांग थम नहीं जाती। विवाद हो जाने के बाद भी लम्बे अर्से तक और दहेज देने की मांग जारी रहती। लड़की के पिता और उसके

रिश्तेदारों की ओर से अलग-अलग शक्लों में यह मांग अबाध गति से जारी रहा करती। सत्यरानी चड्ढा ने अपनी 17 वर्षीय बेटी की अत्यंत कष्ट करके शादी की थी। वह विधवा थीं और उस अकेली की कमाई से उनका घर चलता था। उन्होंने काफी कष्ट करके इधर-उधर से जुगाड़ करके दहेज का सरंजाम जुटाया था और एक स्कूटर खरीदकर वर को दिया था, बेटी को अपनी औकात से बढ़ कर गहने दिये थे। और काफी लोगों को भोज भी दिया था। लेकिन बेटी की शादी हो जाने के बाद से ही उसकी ससुराल वालों की तरफ से यह दबाव डाला जाने लगा कि वह कपड़े की दुकान खोलने के लिए अपनी माँ के पास से पैसे वसूल कर ले आए। बेटी यह बात अपनी माँ को कह नहीं पायी, क्योंकि बेटी तो यह बात खूब बढ़िया से जानती थी कि उसकी माँ ने कितनी मुश्किल से उसकी शादी की थी। कपड़ों की दुकान खोलने के लिए माँ से माँग कर पैसे नहीं लाने के अपराध के कारण सत्यरानी की बेटी की उसकी ससुराल वालों ने हत्या कर दी। जो लोग दहेज प्रथा की प्रत्यक्ष बलि चढ़ा दिये गये, सत्यरानी चड्ढा की बेटी उनमें से एक है। इस दुर्घटना के बाद सत्यरानी चड्ढा नारी अधिकार आंदोलन की एक सक्रिय कर्मी बन गयीं। उनका एक छोटा सा व्यवसाय था। वह उसे छोड़कर बाहर आ गयीं एवं दहेज संबंधी कानून किस प्रकार बदले जा सकते हैं या उनमें लड़कियों के हित में कौन कौन से सकारात्मक बदलाव लाए जा सकते हैं या कोई यदि दहेज के लिए लड़की को प्रताड़ित करता है तो उन्हें कौन-कौन से दण्ड दिये जा सकते हैं - इन सब विषयों को लेकर वे आंदोलन में संलग्न हो गयीं। 70 दशक से चला आ रहा सत्यरानी चड्ढा द्वारा दायर मामले में गत वर्ष सुप्रीम कोर्ट का फैसला आ गया है। सुप्रीम कोर्ट ने सत्यरानी चड्ढा की बेटी के पति और उसके सुसर को अपराधी करार करके जेल भेज दिया है।

## नारी आंदोलन की भिन्न-भिन्न धाराएं

नारी आंदोलन में हमेशा दो धाराएं रही हैं। प्रथमतः जहाँ पर वर्ग-संघर्ष के साथ नारी-मुक्ति के सवाल की स्वीकृति देकर एक वृहत्तर आंदोलन परिचालित हुआ या महाराष्ट्र का दलित आंदोलन (जो जाति के आधाार की लड़ाई थी) के साथ दलित नारीवाद संलग्न हुआ, और परिवार के शोषण का विरोध और वृहत्तर सामाजिक न्याय का आंदोलन एक साथ हुए, वह एक धारा है। साठ और सत्तर के दशक से एक दूसरी धारा हम देख पाते हैं, वह है स्वायत्त या स्वतंत्र नारी आंदोलन। स्वतंत्र नारी आंदोलन को लेकर भी विभिन्न मत हैं।

स्वतंत्र नारी आंदोलन आर्थिक स्वतंत्रता और आर्थिक स्वावलम्बन से जुड़ा है। संभवतः वह प्रायः सामाजिक न्याय के दावे से मुक्त है। स्वतंत्र नारी आंदोलन के उद्देश्य को एक मान्यता देनी होगी। हमलोग औरतों के मुद्दों को जाति या वर्ग शोषण के साथ जोड़ देते हैं, तब लड़कियों की माँग कहीं न कहीं मार खा जाती है। लड़कियों की मांग को लेकर स्वतंत्र आंदोलन करने पर वह जिस प्रकार खड़ा हो पाता, उस प्रकार खड़ा नहीं हो पाया। यह ठीक है, या गलत है, इसका इतिहास खूब लंबा है। उसे बाद में समझ पायेंगे, अभी कह नहीं पा रही हूं। लेकिन अवश्य ही यहां थोड़ा-सा यह बोलूंगी, जो छत्तीसगढ़ में वर्ग संगठन के भीतर खुद मैंने काम किया है। मैंने स्वतंत्र नारी आंदोलन के तहत काम नहीं किया है, किन्तु स्वतंत्र नारी आंदोलन जिस प्रकार अपने लोगों को लेकर अपनी आवाज बुलंद की है, उससे मैंने शक्ति और साहस संचित किया है। वर्ग संगठन के बीच लड़कियों को लोगों को लेकर बात करने या लड़कियों का दायरा बढ़ाने में स्वतंत्र नारी आंदोलन ने साहस का योगदान दिया है। दुर्भाग्य बस यही है कि 70-80 के दशक में आकर देश में सर्वत्र नारी आंदोलन के एक विराट अंश - मैं नारी उत्पीड़न प्रतिरोध मंत्र को नहीं ले रही हूं-ने धीरे-धीरे राष्ट्रीय मांगों को लेकर अपने आप को सीमित कर लिया! राष्ट्र के समक्ष हमलोग क्या-क्या मांग कर सकते हैं, उन लोगों को हम कैसे हासिल कर सकते हैं, यह कोशिश होने लगी। इस प्रकार विभिन्न कानूनी जटिलताओं के बीच स्वतंत्र नारी आंदोलन का एक विराट अंश 'को-आप्शन' की नीति-रणनीति संलिप्त हो गया। इस तरह की संलिप्तता जरूरी है लेकिन फिर भी कष्ट सहन, साहस और समस्या के सापेक्ष अन्य महत्वपूर्ण बहुत से तथ्य रह जाते हैं।

## जन्म नियंत्रण एवं दाता संस्थाओं की राजनीति

प्रजनन संबंधी अधिकार को लेकर जो संगठन काम कर रहे थे वे लोग जुड़ गये 'Depoprovera' एवं नये जन्म नियंत्रण की दवाओं के परीक्षण-निरीक्षण के साथ। भारत 'राष्ट्र' परिवार नियोजन के लिए व्यक्तिगत मुनाफा की खातिर ऐसी सारी दवा या ड्रग्स देश में ला रहा था। उन ड्रग्स का किसी लेबोरेटरी में कोई परीक्षा नहीं हुई थी। किसी महिला के शरीर पर लम्बे समय में क्या असर पड़ सकता है इसके बारे में निश्चित हुए बगैर भारत सरकार उन दवाओं को परिवार नियोजन के लिए उपयोग में लाये जाने की अनुमति दे रही थी। हमारा राष्ट्र उस समय एक 'आग्रासी' नीति ग्रहण किए बैठी थी।

अंतर्राष्ट्रीय दाता संस्थानों से दबाव पड़ रहा था, वे लोग मांग कर रहे थे - ''हम लोग करोड़ों-करोड़ों रुपया दे रहे हैं भारत की उन्नति के लिए, 'गरीबी हटाओ' योजना चलाये जाने के लिए, अग्रणी बने रहने के लिए। तुमलोगों की आबादी जिस प्रकार बेतहाशा बढ़ती चली जा रही है, उसके मद्देनजर यदि जनसंख्या नियंत्रित न की गयी तो तुमलोगों का सारा पैसा पानी में डूब जाएगा। इसलिए जनसंख्या नियंत्रित करने के लिए तुमलोग कठोर नीति ग्रहण करो।''

इस कठोर नीति के हमलोगों ने विभिन्न रूप देखे हैं। जैसे, इमरजेंसी के दौरान संजय गाँधी ने नसबंदी (पुरुष बंध्याकरण) परियोजना को कार्यान्वित करने के लिए उग्र रूप से तत्पर थे। कई बार नारी आंदोलन के सदस्य लोग यह कहते हुए हंसते भी रहे हैं कि संजय गाँधी ने जन्म नियंत्रण के लिए पुरुष जनसंख्या को टार्गेट किया था, उस बंध्याकरण को वास्तविक करने के लिए संजय गाँधी आक्रामक हो गये थे। सरे राह चलते, रेल स्टेशन, बस स्टैंड, यहाँ-वहाँ से पुरुषों को उठवा कर उसकी नसबंदी करा देने में वह कुख्यात हो गये थे। उस चुनाव में इंदिरा गांधी भयंकर रूप से हारी थीं। उसके कई कारण थे - मगर संभवतया बहुत बड़ा कारण यह था कि भारतीय आबादी का एक बड़ा हिस्सा जन्म नियंत्रण अभियान को लेकर संजय गांधी के अचानक आक्रामक हो जाने को हजम नहीं कर सका और इंदिरा गांधी को सरकार बनाने की हैसियत में आने से वंचित कर दिया। बंध्याकरण का यह आक्रामक कार्यक्रम यदि औरतों पर चलाया जाता, बड़े पैमाने पर होता, तब समाज और राजनीति पर उसका कितना असर पड़ता यह मैं नहीं जानती। हमलोग बहुत बार कहते हैं - ''हो सकता है ऐसा या इतना नहीं होता। जो भी हो, मैं जो बात कह रही थी, उस बात पर लौटती हूं। नारी आंदोलन के एक बड़े हिस्से ने कानूनी मांग को लेकर काम करने के लिए गंभीर रूप से अपने आप को जोड़ लिया। परिणाम स्वरूप वृहत्तर राजनैतिक संपर्क या नारी आंदोलन की धार कुंद हो गयी।

नारी आंदोलन के एक बड़े हिस्सा ने 'पारिवारिक उत्पीड़न से नारियों की सुरक्षा कानून (PWDVA) अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति उत्पीड़न निगरानी कानून (SC/ST Atrocity Prevention Act) जो महाराष्ट्र में आरंभ हुआ है, के बनाये जाने के लिए खूब सक्रियता के साथ काम किया। उनलोगों के परिश्रम, उनके काम की सफलता आदि के कारण ही यह कानून अस्तित्व में आया। लेकिन इन कानूनों के होते हुए भी क्या हमलोग जोरदार आवाज के साथ

यह कह सकते हैं कि महिलाओं की स्थिति संतोषजनक स्तर तक पहुंची है? इन कानूनों की संवैधानिक नींव क्या है? इन कानूनों की 'कार्यकारिता' क्या है? परिसंस्थान क्या कहते हैं? मैं तो इतना खुद से पूछती हूं और सबसे पूछने का साहस कर सकती हूं कि हमलोग मथुरा मामले के बाद जो बदलाव ला पाये थे, उससे बलात्कारों की संख्या में कमी आयी है? बलात्कार क्या कम हो रहे हैं?

## कानूनी संस्कार की सीमा एवं अराजनीतिकरण की समस्या

निश्चित रूप से हमलोगों को स्वीकार करना पड़ेगा कि कानूनी परिवर्तन और उसके प्रभाव के बावजूद स्थिति में कोई उल्लेखनीय सकारात्मक परिवर्तन या उन्नति नहीं हुई। संभवतः जो लोग शिक्षित हैं, जो लोग संभ्रांत हैं, वे थोड़े जागरूक हुए हैं - लेकिन कानूनी बदलाव की वजह से विशेष कोई परिवर्तन संभवतः नहीं हो पाया है।

60-70 का दशक, यदि हमलोग कहें, तो कानूनी सक्रियता का दशक था। तब उस समय जितने कानूनों में बदलाव लाया जाना संभव था, जिन कानूनी बदलावों का प्रस्ताव हमलोग ला सके थे, वे अब कानून में परिणत हो गये हैं।

90 के दशक में आकर तस्वीर एकदम बदल गई। उस समय जो आर्थिक उदारीकरण हुआ, उसकी वजह से यह परिवर्तन आया था। राजनैतिक चर्चा-आलोचना (पॉलिटिकल डिस्कोर्स) एकदम से बदलता चला गया।

अब हमें यह देखने की जरूरत है कि महिला आंदोलन कहां खड़ा है? अभी हमारी मांग क्या है? राष्ट्र के साथ हमारा संबंध क्या है?

नारी आंदोलन का एक विराट अंश कानूनी बदलाव के लिए काम कर रहा था। इसके फलस्वरूप (Co-option) यानी 'सहयोजन' घटित हुआ। नारी आंदोलन की ढेर सारी मांगों को राष्ट्र ने स्वीकार भी कर लिया था।

8 मार्च को हमलोग अंतर्राष्ट्रीय नारी दिवस मनाते हैं। इस दिन को मनाना कब शुरू हुआ था? और कहां? नारी आंदोलन के लिए 8 मार्च की उपलब्धि क्या थी? नारी श्रमिकों ने मांग की थी - हमलोग 8 घंटे ही काम करेंगी। आठ घंटे हमारे विश्राम करने का समय है और 8 घंटे के बाद भी हमें काम करना पड़ेगा, तब हमें 'ओवर टाइम' प्राप्त हो। अमेरिका में जब नारी श्रमिकों की यह मांग स्वीकार की गई, तो इसे जीत के रूप में समारोहित करने के लिए 8 मार्च को अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस के रूप में मनाया जाने लगा। क्लारा जेटकिन ने

कहा था कि 8 मार्च को हमलोग 'श्रमिक नारी दिवस' मनाएंगे। इसी रूप में प्रस्ताव ग्रहण किया गया। बाद के दिनों में सोवियत यूनियन के गठित हो जाने के बाद वहां 8 मार्च को एक 'राष्ट्रीय उत्सव' के रूप में मनाए जाने की बात तय की गयी।

इसी के बाद से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर और भारत में सभी स्थानों पर 8 मार्च को हमलोग अंतर्राष्ट्रीय नारी दिवस के रूप में मनाते आ रहे हैं। लेकिन हमलोग इसे किस प्रकार मना रहे हैं? यह महज एक सरकारी दिवस मात्र हो कर रह गया है। 8 मार्च को भाषण कौन दे रहा है? जिला कलक्टर या सबसे बड़ा सरकारी वकील! तो फिर हमलोगों ने अंततः क्या हासिल किया? हमारे देश ने क्या अर्जित किया? हमलोगों को क्या-क्या अर्जित करना अभी बाकी है? यह हमें सोचना-विचारना पड़ेगा।

सबसे बड़ी बात यह कि कमा कर खाने वाली लड़कियों की जिंदगी क्या बदली है 8 मार्च के बाद? क्या सचमुच वे आठ घंटा काम करने के बाद आराम कर पाती हैं? हम लोग देखते हैं कि एक दिन में वे 12-14 घंटे काम करती हैं। जिंदा रहना इतना मुश्किल हो चला है कि कुछ कहना मुनासिब नहीं। मुद्रा स्फीति चरम पर है। चीजों के दाम असहनीय स्तर पर बढ़ गये हैं। इस अवस्था में सामान्य लड़कियों को, बेबी हालदार जैसी लड़कियों को वर्तमान समय में पश्चिम बंगाल को छोड़कर, दिल्ली जाकर घरेलू नौकरानी का काम करना पड़ रहा है। 8 मार्च को हमें यह याद करना चाहिए कि खटकर खानेवाली लड़कियों के लिए हमलोग क्या परिवर्तन ला सकते हैं? इसके लिए हमें लड़ाई करनी पड़ेगी, उनके लिए और कौन-सी कानूनी या समाधान कारक कदम हम उठा सकते हैं यह सोचना होगा। किन्तु इन सब मुद्दों पर कोई पहलकदमी हो नहीं रही है।

कहीं न कहीं हमलोग राह भटक गये हैं। हो सकता है हमलोगों की राह ही भटका दी गयी है, क्योंकि लड़कियों की माँगों को लेकर या लड़कियों से जुड़े मुद्दों को लेकर उन्नयन के क्षेत्र में गत 30-40 वर्ष के दौरान काफी विशाल अन्तर्राष्ट्रीय अनुदान आया और नारी उन्नयन, शिशु उन्नयन (Women & Child development) इस जैसे कई तरह से विषयों को समझने की कोशिश की गयी।

आजकल कुछ बंधी-बंधाई चीज सुनाई पड़ती है - जैसे लैंगिक बजट

तैयार (Gender Budget) करो। पश्चिम बंगाल की बात मैं नहीं जानती। मैं वहां नहीं रहती हूं। लेकिन यह जानती हूं कि छत्तीसगढ़ में जंगल उन्नयन के लिए फंड या प्रोजेक्ट आते हैं। इसके साथ लिंग आधारित बजट में क्या-क्या होगा, इसे लेकर बातचीत करना वहां निहायत जरूरी हो गया। सरकारी अमले की ओर से कुछ गैरसरकारी संस्थानों को जोड़ा गया। कुछ सक्रिय कर्मियों को बुला कर विमर्श किया गया कि लैंगिक आधार पर क्या आय-व्यय होगा? लड़कियों के काम के लिए जो पैसे आए हैं उनका दस प्रतिशत जाएगा या 20 प्रतिशत जाएगा एवं कैसे जाएगा? सबसे सहज राह जो अख्तियार करनी होगी वह होगी - महिलाओं की स्वयं सहायता समूह गठित करानी होगी। लड़कियां संचय करें, उस संचित पैसे से कोई काम करें, इसके बाद हम उन्हें थोड़ी सहायता दे देंगे। यह है लिंग आधारित बजट। समस्त क्षेत्र में लैंगिक आधार पर बजट की परिकल्पना करने के बाद यह प्रश्न बाकी ही रह गया कि क्या सचमुच महिलाओं की स्थिति में स्थायित्व भरा कोई सकारात्मक परिवर्तन हुआ? क्या उनकी जिंदगी पहले की अपेक्षा सहज हुई है?

## नारी उत्पीड़न : एक पैर आगे, दो पैर पीछे

यहां से हमलोग विमर्श में आयें 2012 साल में। 16 दिसम्बर की घटित ज्योति उर्फ निर्भया के साथ बलात्कार की घटना पर। इस प्रकार की बलात्कार की घटना देश में बार-बार घट रही है। देश में बलात्कार की घटनाओं में कमी आ रही है मैं यह बात नहीं मानती, लेकिन उस दिसम्बर में देश की राजधानी दिल्ली में घटित बलात्कार की घटना की नृशंसता के खिलाफ नारी आन्दोलन और नागरिक समाज जिस अतिवादी अंदाज में उद्वेलित हो उठा था, ठीक इसी किस्म की तीव्र प्रतिक्रिया दिखाई दी थी मथुरा में हुई बलात्कार की घटना के बाद।

वर्ष 2012 में चूंकि चुनाव का समय आ गया था, शायद इसलिए सरकार ने काफी तत्परता दिखाई। इतना भर सच है कि हमलोगों ने जितना भी अर्जित किया है, उसका यह फल हासिल हुआ कि सरकार लड़कियों के मुद्दों को दरकिनार नहीं कर सकती। वर्तमान समय में उसे लेकर थोड़ी बहुत बातचीत होती है। राष्ट्र सीधी कार्रवाई करने के लिए बाध्य होता है।

उस दुर्घटना के बाद सरकार ने वर्मा कमीशन बनाया। वर्मा कमीशन ने इतिहास और अनुभव के आधार हमें इस तथ्य से अवगत कराया कि हमलोग

राष्ट्रतंत्र के पास से कितना कुछ हासिल कर सकते हैं या क्या हासिल नहीं कर सकते हैं? वर्मा कमीशन के समक्ष कई सिफारिशें रखी गई थीं - उनमें दंड संबंधी सिफारिश भी थी। नारी आंदोलन के पक्ष से कई सिफारिशें की गयी थीं, सभी जगहों से 'दंड' को लेकर एक सुर में सबने आवाज उठाई थी - ''हमलोग मृत्युदंड नहीं चाहते हैं, क्योंकि हमलोगों की मुख्य मांग यह है कि हमलोग ऐसा समाज चाहते हैं, जहां बलात्कार न हो। हमारी देह बलात्कार के लिए नहीं है।'' लेकिन कमीशन की सिफारिश के बाद भी जो आर्डिनेंस लाया गया उसमें दंड के रूप में मृत्युदंड ही रखा गया, अर्थात् ''तुमने मुझे नुकसान पहुंचाया, इसलिए मैंने भी तुम्हें नुकसान पहुंचाया। तुमने दाहिने हाथ को सामने कर मेरे घर में चोरी की, इसलिए मैंने तुम्हारा दाहिना हाथ काट लिया।'' यह प्रतिहिंसा परायण न्याय (Retributive Justice) का एक उदाहरण है। लेकिन प्रकृत न्याय कभी भी हिंसा-प्रतिहिंसा की राह ग्रहण नहीं करता। हमलोग तो समाज को ऐसी राह पर ले जाना चाहते हैं जहां सामाजिक अविचार के लिए कोई जगह नहीं रहे। लिंग, श्रेणी, जाति आधारित विषमता नहीं रहे। इसी किस्म का समाज हमारा लक्ष्य है। लेकिन प्रतिहिंसामूलक न्याय लेकर हमलोग उस समाज की ओर आगे नहीं बढ़ पायेंगे।

हाल में मुम्बई शहर के शक्ति मिल में सामूहिक बलात्कार की एक दुर्घटना हुई। इस मामले में त्वरित निर्णय लिया गया और विशेष फैसला सुनाया गया तथा चार युवकों के मृत्यु दंड की घोषणा की गई है। इस घोषणा के बाद टेलीविजन का दृश्य दिखाया गया, और लोगों द्वारा सरकारी वकील का अभिनंदन करते हुए यह कहते सुना गया कि ''आपने एक ऐसा फैसला दिलाने में मदद की है जिसका सुपरिणाम यह होगा कि भविष्य में कोई दुष्कर्मी किसी लड़की का बलात्कार करने का दुस्साहस नहीं करेगा। अब कोई बलात्कार करने से भी डरेगा।'' यानी बलात्कार पर अंकुश के लिए 'भय' को बढ़ाया जाए। देश में भय का कानून बनाया जाए। लेकिन हमलोग क्या ऐसा समाज चाहते हैं? भारत की महिलाएं तो ऐसा समाज चाहती हैं जहां पुरुष बलात्कार करने की सोचे ही नहीं। वह लड़कियों-महिलाओं को सम्मान की दृष्टि से देखे। इसी से स्वाभाविक रूप से समाज में बलात्कार बंद होगा।

## सशस्त्र वाहिनी विशेष क्षमता कानून : रक्षा कवच

सशत्र वाहिनी विशेष क्षमता कानून (Armed Force Special Power Act) के बारे में हम सारे लोगों की तरफ से, उत्तर पूर्व भारत के विभिन्न संगठनों की तरफ से, कुछ सिफारिशें भेजी गई थीं। वर्मा कमीशन ने खुद सिफारिश भेजी थीं और कहा था कि इस विशेष क्षमता कानून के अवसर का लाभ लेकर उत्तर-पूर्व भारत के साधारण लोगों के ऊपर सशस्त्र वाहिनी दमन और उत्पीड़न कर रही है। इस कानून को सेना 'व्यवहार' में ला रही है। विशेषकर लड़कियों का बलात्कार और धारावाहिक ढंग से यौन हिंसा हो रही है। उनके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की जा रही है, क्योंकि इस कानून के कारण सैनिकों को छूट (Inspunity) मिली हुई है।

वर्मा कमीशन के सामने मांग रखी गयी थी कि ''बलात्कार के अपराधी अभियुक्त सशस्त्र सैनिक भी देश का आम नागरिक है। ऐसे बलात्कार मामलों का निष्पादन हमारे देश में आम नागरिक के लिए जिस कोर्ट में होता है उसी कोर्ट में हो। कमीशन ने उस बात को स्वीकार किया एवं इस विषय में कमीशन ने अपनी सिफारिश भी की, लेकिन सरकार ने उसे नहीं माना। बलात्कार संबंधी अन्यान्य मामलों में की गयी सिफारिश को सरकार ने मान ली थी। जो हमारी मांग में शमिल भी नहीं थी, उस मृत्यदंड को थोप कर सरकार ने यह दिखाने की कोशिश की कि वह लड़कियों की मांगों की समर्थक है!

संघर्ष के इलाके में सशस्त्र सैनिकों द्वारा किए गये बलात्कारों के माध्यम से हमलोग राष्ट्रीय आतंक या हिंसा का अमानवीय चेहरा देख पाते हैं। कानून-व्यवस्था का यह मानवद्रोही रूप है, लेकिन इस संबंध मे हमें कोई दुविधा नहीं है। यही विद्रूपात्मक स्थिति है।

वर्मा कमीशन की सिफारिश पर इंटरनेट और अखबारों के माध्यम से कहा गया - ''यह गलत कैसे हो सकता है? जहां राष्ट्रीय सुरक्षा का सवाल है, जहां सशस्त्र सेनाओं का हाथ है, वहां हमलोग अपने सैनिकों का हाथ किसी प्रकार बांध नहीं सकते। कानून-व्यवस्था बनाये रखने के लिए उन्हें पूरी तरह से स्वतंत्र छोड़ना होगा। ऐसा किया जाना ही उचित है।

इसका अर्थ क्या? उत्तर भारत, मध्य भारत, कश्मीर या अन्य कोई उपद्रव वाले या संघर्षशील इलाके में कानून-व्यवस्था बनाये रखने के लिए नारी की देह उत्सर्जित कर देनी होगी?

उपद्रव वाले इलाके में हमलोग लड़कियों को कोई विशेष सुरक्षा नहीं दे पाते हैं। हमलोगों को एक संख्या आधारित तुलनामूलक तथ्य (Statislical Comparative Data Generate) तैयार करना उचित होगा कि संघर्ष के इलाकों में वर्ष में कितने बलात्कार होते हैं और तथाकथित 'शांत' इलाकों में कितने बलात्कार होते हैं? जघन्यता को दिमाग में रख के चार या पांच बरसों के तथ्यों की विवेचना से हमें समझ में आयेगा कि इस हिंसक कुकृत्य की मात्रा कहां कितनी अधिक है? मैंने स्वयं देखा है कि एक के बाद एक ऐसी हजार-हजार घटनाएं घटित होती चली जा रही हैं।

छत्तीसगढ़ में जब से नागा सैनिक आये हैं, तब से सेना के खिलाफ नारीवादी आंदोलन वहां प्रतिवाद कर रहा है। यह हमलोगों की एक छोटी-मोटी सफलता है। कई बार हिंसा या बलात्कार की घटना को रोक रखने की चेष्टा भी की है, ताकि यह और अधिक संख्या में घटित न हो। मगर हम ऐसा करने में सफल न हो सके। नागा बटालियन थी काफी हिंसक। ऐसा क्यों था यह मैं नहीं जानती। राज्य पुलिस भी हिंसक थी, सीआरपीएफ भी हिंसक थी, लेकिन नागा बटालियन न जाने क्यों सबसे अधिक हिंसक थी। उस समय जितनी भी बलात्कार की घटनाएं घटित हुई थीं, उनमें से अभियोग दायर एक मामले का मैं उल्लेख करना चाहती हूं।

'सामसोत्री' नामक छोटे से एक गांव में लोगों ने एक महिला का सामूहिक बलात्कार किया। मामला दायर किया गया। सीआरपीएफ के खिलाफ केस के ढेर सारे बलात्कार के मामले अधिकांश समय आम लोगों के सामने आ भी नहीं पाते हैं। बहुत सारे बलात्कार के मामले घटित हो जाते हैं, अखबारों में खबरें छपती हैं, एक मुंह से दूसरे मुंह बातें पहुंचती है किन्तु कोई कानूनी प्रक्रिया शुरू नहीं हो पाती। सामसोत्री गांव की महिलाओं ने इस दुर्घटना की पुलिस में रिपोर्ट की। मामला कोर्ट में पहुंचा। कोर्ट में गवाही देने के लिए आयी महिलाओं ने अपराधी की शिनाख्त करने से इन्कार कर दिया। गवाह के अभाव में मामला खारिज हो गया। महिलाओं ने ऐसा क्यों किया? क्योंकि स्पेशल पुलिस अधिकारी और अन्य लोग, जिनके खिलाफ बलात्कार करने के आरोप लगाए गये थे, कोर्ट में बैठे हुए थे। महिलाएं एकदम सीमांत गांव से आई हुई थीं। कोर्ट में गवाही देने के बाद उनलोगों को उन्हीं सुदूर गांवों में लौटना पड़ता, जहां उन्हें सुरक्षा देने वाला कोई नहीं था। इसलिए मजबूर होकर उन महिलाओं ने कहा - 'हमलोगों ने उन लोगों को पहचाना नहीं।'

सरकार यदि सचमुच चाहती है कि इस किस्म की घटनाएं न घटित हों, तो सिर्फ मृत्युदंड काफी नहीं हैं, आर्डिनेंस काफी नहीं है, कोर्ट में कानूनी प्रक्रिया शुरू कर देना काफी नहीं है। लड़कियों को हमलोग भयमुक्त परिवेश दे सकें, यह बात हमें सुनिश्चित करनी होगी। सिर्फ शहर में नहीं, हरेक गांव में भी लड़कियों की 'निरापदता' सुनिश्चित करनी होगी।

प्रथमतः नारी उत्पीड़न या बलात्कार आदि की घटनाएं घटित ही न हों - यह चेष्टा करनी होगी और यदि ऐसी नृशंस घटना घटित हो भी जाए और यदि पीड़िता कानूनी कदम उठाना चाहे, तो हम उसे सुरक्षा दे सकें, हमें यह सोचना और सुनिश्चित करना होगा।

आइए, हम नागा बटालियन के बारे में विमर्श करने की ओर लौटें। नागा बटालियन जब छत्तीसगढ़ में आयी, तो ऐसी अमानवीय घटनाएं और ज्यादा घटित होने लग गईं। तब छत्तीसगढ़ मां संगठन (Naga Mother's Association) की ओर से नागालैंड संगठन को पत्र भेजा गया। पत्र में कहा गया - ''तुमलोग अपने यहां की सेना वाहिनी के खिलाफ सामरिकीकरण के खिलाफ लड़ रहे हो और इधर हमारे राज्य में जो सामरिकीकरण हो रहा है और तुमलोगों के राज्य से पुलिस बटालियन आकर हमारे राज्य में हिंसक अत्याचार कर रही है, यह कहां का न्याय है? तुमलोग हमलोगों की लड़ाई में मदद करो।''

नागालैंड का महिला संगठन तब सुगबुगाया। उनलोगों ने मांग की कि 'छत्तीसगढ़ से नागा सैनिकों को हटा दिया जाए।' नागालैंड के दूसरे प्रकार के संगठन भी इस आंदोलन के समर्थन में खड़े हो गए। इसके फलस्वरूप छत्तीसगढ़ से नागा सैनिकों को हटा लिया गया। यह नारी आंदोलन की एक छोटी-सी सफलता है।

वर्मा कमीशन एक शैक्षिक अनुभव था। इस शैक्षिक अनुभव से हमलोग यह समझ पाते हैं कि राष्ट्र के हस्तक्षेप से हमलोग कितनी आशा कर सकते हैं? हमारे लोकतांत्रिक राष्ट्र में काफी कुछ है, जिन्हें हम बचाए रखना चाहते हैं, लेकिन एक समालोचनामूलक हस्तक्षेप (Critical Engagement) करना पड़ेगा। गणतांत्रिक राष्ट्र का अनुष्ठानिक अधिकार जिससे अक्षुण्ण रहे, उसे लेकर लड़ाई करना उचित है। साथ ही हमें राष्ट्र की सीमाबद्धता के बारे में सचेत रहना होगा।

## पाकिस्तान की धर्म आधारित नीति

अपने पड़ोसी देशों के अनुभव से हमें विषय को समझने में मदद मिलेगी। राष्ट्र के रूप में तैयार होने पर पाकिस्तान थी। जाहिदा हिना जैसी महिलाओं ने जो लिखा वह देश-विभाजन से उपजे दुख, वेदना एवं मानवीय पीड़ा का मार्मिक दस्तावेज है। कई महिलाओं, हिना गिलानी, आस्मा जहांगीर जैसी महिलाओं ने पाकिस्तान के 'एक नायकीय' शासन के खिलाफ लड़ाई का नेतृत्व किया। अर्थतांत्रिक राष्ट्र की सीमाबद्धता के बारे में जो लोग सचेत हुए थे, पाकिस्तानी महिलाएं उन लोगों की पहली कतार में आती हैं। कुछ लोगों ने आपस में बैठकर देश के ऊपर से एक लकीर खींच दी। उन्होंने ठीक कर दिया कि कौन किस तरफ जाएगा? धर्म के आधार पर देश में विभाजन हो गया। न जाने कितने आदमी छिटक कर इस तरफ आ गये और न जाने कितने उस तरफ जा पड़े। जो लोग पाकिस्तान की ओर चले गये वे लोग बहुत कम समय के लिए लोकतांत्रिक माहौल में सांस ले पाये। जिन्ना ने पाकिस्तान का जो संविधान बनाया था वह तुलनात्मक ढंग से लोकतांत्रिक (Compartively Decocratic) था। लेकिन वह बहुत अल्प काल के लिए कायम रह पाया। वह संभवतः अधिक से अधिक महज पांच वर्ष के लिए ही था। जिया के समय से मार्शल लॉ लागू हो गया। आखिरकार इस्लामी राष्ट्र का जो संविधान तैयार हुआ, उसमें महिलाओं को अत्यंत निचले पायदान पर रखा गया। इस्लामी कानून शुरू करने के नाम पर 'हदूद' आर्डिनेंस लागू हो गया। 'जिना' आर्डिनेंस शुरू हुआ। 'जिना' कानून के तहत लड़कियों की अपनी इच्छा या अनिच्छा से किसी परपुरुष के साथ दैहिक संपर्क हो गया, तो उसके खिलाफ दंडात्मक कार्रवाई किये जाने की प्रक्रिया शुरू हो गयी। यानी जो औरत बलात्कृत होगी, उसके खिलाफ राष्ट्र ने दंड देने की प्रक्रिया शुरू की क्योंकि अनिच्छा रहने के बावजूद बलात्कृता का परपुरुष के साथ अंततः दैहिक संबंध जो हुआ!

कराची, लाहौर या इस्लामाबाद जैसे बड़े शहरों की लड़कियां थोड़ी सुरक्षित रहने के बावजूद सुदूर ग्रामीण इलाकों में बलात्कार की शिकार हुईं अनेक महिलाओं के खिलाफ राष्ट्र ने कानूनी प्रक्रिया शुरू की। संभवतः उन्हें सजा भी हो गयी।

मोत्तरम कानून के खिलाफ कानून के तहत मामला दायर किया गया है। लेकिन कुल मिलाकर ऐसा ही है पाकिस्तानी कानून। 'हदूद' अर्डिनेंस के

खिलाफ पाकिस्तान का महिला आंदोलन एवं कानूनजीवी जमात कटिबद्ध होकर खड़े हैं। इस आंदोलन के परिणामस्वरूप वर्तमान पाकिस्तान में नारियों के लिए थोड़ा लोकतांत्रिक माहौल तैयार हो सका है।

## बहुविध जातीय परिस्थिति में राष्ट्रीय पितृतंत्र का चरित्र

हमलोग दक्षिण एशिया को केंद्र में रख कर विमर्श करें, तो 'राष्ट्र' के मौलिक पितृतांत्रिक चरित्र पर गौर कर सकते हैं। अन्यान्य जातीय और राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में महिलाओं की स्थिति में जिस प्रकार का उतार-चढ़ाव आ रहा है उस 'गतिपथ' को यदि हमलोग लक्ष्य करें - तब यह विषय और अधिक स्पष्ट होगा। कई बार हमें लगता है कि हमारा राष्ट्र यदि इस प्रकार का न होकर अन्य प्रकार का होता तब क्या होता? क्या अच्छा होता? इस सिलसिले में सोवियत रशिया की ओर देखना भी उचित होगा - जो अनेक लोगों के लिए 'स्वामित्व' राष्ट्र था। आरंभिक दौर में सोवियत रशिया में कई ढांचे तैयार किए गये थे। अलेकजान्द्रा कोलनताई, ईनेसा अरगंड, वाजेहा जैसी कई नेत्रियों ने इसमें खूब सक्रिय भूमिका निभाई थी। इन लोगों के पथ-प्रदर्शन हेतु पहली बार रशिया में शिशुओं की देखभाल, बच्चों के लिए खाद्य संस्थान आदि के माध्यम से व्यक्ति की सत्ता के सामाजिकीकरण करने की चेष्टा की गयी। इन कामों को करने के लिए सारी संस्थाएं तैयार हुईं। फैक्टरी या कम्यून में शिशुओं की देखभाल के लिए केंद्रीय और सामूहिक रसोई घर तैयार की गई। इसके फलस्वरूप महिलाएं बाहरी उत्पादन कार्य में उन्मुक्त भाव से सहभागी बन सकीं। बाद के समय में विभिन्न पश्चिमी लोकतांत्रिक देशों ने इस मॉडल का अनुसरण किया, जिनकी राजनैतिक विचारधारा दूसरे प्रकार की थी। उनलोगों ने भी अपने देश में स्वास्थ्य व्यवस्था, शिशुओं की देखभाल की व्यवस्था, शिशुओं की शिक्षा की व्यवस्था और 'सामाजिकीकरण' की कोशिश की। किन्तु बाद में उदारीकरण की नीति ने भारत और विश्व को ग्रसित कर लिया। परिणाम यह है कि उक्त 'समाजिकीकरण' का मॉडल अब लुप्तप्राय है - वह टूट रहा है या जल्द टूट जाएगा।

## सोवियत रशिया में क्या हुआ?

सोवियत रशिया में जब उत्पादन के लिए लड़कियों के श्रम की जरूरत थी, तब 'राष्ट्र' ने एक विराट संरचना तैयार की थी, जिसके फलस्वरूप परिवार के व्यक्तिगत कामों का 'सामाजिकीकरण' हो गया, और वह सब काम परिवार

से बाहर निकल गया। बाद के दिनों में सोवियत राष्ट्र में अपनी जरूरत के अनुसार, विशेष कर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद, जब जनसंख्या का एक बड़ा भाग, विशेष कर पुरुष युद्ध में मारे गये, तब जनसंख्या बढ़ाने के लिए पचास के दशक में पांच से अधिक बच्चा पैदा करने वाली मां को 'मातृत्व पुरस्कार' दिया जाने लगा। रशिया एक समाजवादी देश है या नहीं, मैं इस तर्क-वितर्क में नहीं जाती। मान लिया जाए कि आरंभिक दिनों में वह समाजवादी राष्ट्र था, तो भी वहां थोड़ा समाजवाद के ऊपर आस्था रख कर, और थोड़ा राष्ट्र के प्रयोजन के अनुरूप पलिसी में बदलाव लाया गया। तो फिर लड़कियों की स्वाधीनता कहां है? सोवियत रूस के आम-अवाम के अधिकार क्षेत्र (Public Domain) में काफी बदलाव हुए हैं। फलस्वरूप आरंभिक स्तर पर जो स्वाधीनता और सुरक्षा सोवियत राष्ट्र की लड़कियां पाती थी, वह तिरोहित हो गई।

चीन का उदाहरण भी दिया जा सकता है। चीन में 'एक संतान' की नीति दिखाई देती है। आरंभ में संसाधन भंडारण (resource basic) के साथ जनसंख्या का (Population base) का कोई संबंध हो सकता है, इसे स्वीकार नहीं किया गया। क्लासिकल प्रभु वर्ग में इस विषय के बारे में यथेष्ट विमर्श नहीं किया गया अथवा स्पष्टतः कुछ कहा नहीं गया। चीन में आरंभिक दिनों में यह कहा जाता था कि जनसंख्या हमारी संपदा है, हमारी शक्ति है, लेकिन बाद के दिनों में जटिलता दिखाई पड़ने के साथ पहले 'दो संतानों की नीति' और फिर 'एक संतान की नीति' चलने लगी। 'एक संतान की नीति' दर्शाती है कि चीन में किस प्रकार आज भी पितृसत्तात्मकता कायम है। कनफूसियस चले गये, मगर 'पितृसत्तात्मकता' नहीं गयी। 'एक संतान की नीति' में एक विकराल संकट तब दिखाई पड़ा, जब मां-बाप को तय करना पड़ा कि 'हम लोग लड़के को जन्म देंगे या लड़की को जन्म देंगे?' दुष्परिणामस्वरूप कन्या भ्रूण हत्या की घटनाएं भयावह रूप से बढ़ने लगीं। चीन में अधिकतर परिवारों में लड़के जन्म लेते रहे, लड़कियों की जन्म-दर तेजी से घटने लगी। अब वहां लिंगानुपात में असमानता पायी जा रही है। इसलिए 'एक संतान की नीति' को अब तनिक शिथिल कर दिया गया!

## हमलोग आगे कैसे बढ़ेंगे?

'राष्ट्र' नारियों की स्वाधीनता, सम्मान और मर्यादा की रक्षा करने में कितना सक्षम है, यह प्रश्न हमें अपने आप से करना होगा और उस प्रश्न का

उत्तर खोजना होगा। हमें अपने कार्यों के लक्ष्य और कार्य प्रणाली तय करने के लिए भी इन सवालों के जवाब तलाशने होंगे।

फ्रेडरिक एंगेल्स ने आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं राष्ट्र की उत्पत्ति जब लिखा था, तब उन्होंने कहा था - ''परिवार हमारे रहने का स्थान है, मित्रता एवं जोड़ी बनाने का स्थल है, किन्तु परिवार प्राथमिक स्तर पर एक अर्थनीतिक प्रतिष्ठान है। इसलिए परिवार की जो व्यक्तिगत संपत्ति होगी उसका एक न्यायसंगत उत्तराधिकारी तय करना होगा। वैध उत्तराधिकारी चिन्हित करने के लिए परिवार की लड़कियों की गतिविधियों को 'बांधना' (सूत्रबद्ध करना) होगा। मगर यह कौन करेगा? कानून करेगा। कानून करेगा और राष्ट्र यह कानून तैयार करता जाएगा। यह जो नारियों की स्वाधीनता के साथ राष्ट्र का संबंध है (relationship between women's subordination and state) यह औरतों की स्वाधीनता के अभाव अथवा असमानता का एक मौलिक कारण है। इसलिए राष्ट्र के चरित्र को समझना आवश्यक है। राष्ट्र के साथ समालोचना मूलक हस्तक्षेप (critical engagement) किस प्रकार किया जायेगा, उसे स्थिर करने के बीच ही हम आगामी वर्षों में, जिस संकट या विपत्तियों की आशंका करते हैं उनका मुकाबला कर सकेंगे। ■

*- (बांग्ला में लिखित और हिंदी में प्रस्तुत इस आलेख का अनुवाद किया है पटना के हिंदी कथाकार **नरेन** ने)*

**पांचवां नूतन स्मृति व्याख्यान**
(9 अक्टूबर 2018, रांची)

# विकास की अंधी दौड़ : महिलाओं पर बढ़ती हिंसा

कमला भसीन

जोहार दोस्तो! लाल सलाम! जय भीम! जेपी और जेपी आंदोलन को सलाम - महिला आंदोलनों की तरफ से, तमाम आंदोलनों की तरफ से। कल जयप्रकाश जी की पुण्यतिथि थी। जयप्रकाश जी ने बहुत बड़ा कदम उठाया प्रजातंत्र को बचाने का 74-77 में। घनश्याम और मेरी दोस्ती करीब 30-35 साल पुरानी है और अगर घनश्याम फोन करके कहे कि कमला तुमको आना होगा तो चाहे कितनी व्यस्तता हो, मना करना नामुमकिन था।

मैं परसों पहाड़ों से आई। मैं उत्तराखंड गई हुई थी, कल दिल्ली में वीजा लेना है और परसों लाहौर जाना है। लाहौर की एक हमारी ह्यूमन राइट एक्टिविस्ट अस्मा जहांगीर 5-6 महीने पहले गुजर गई। उनकी याद में एक बड़ा इंटरनेशनल सम्मेलन है। इन दोस्तों के भरोसे ही हम लोग चल रहे हैं।

मेरे मन में आप सब लोगों के काम के प्रति इज्जत है। जेपी आंदोलन के बारे में, संपूर्ण क्रांति के बारे में, छात्र युवा संघर्ष वाहिनी के बारे में। मैं आप सब लोगों की तारीफ करने के लिए यहां आई हूं। लेकिन मैं आप सबके एक चीज से सहमत नहीं हूं। आपका यह जो निर्णय था मुझे बुलाने का, यह ठीक नहीं है। अपने आप को मैं इस मंच से बोलने लायक नहीं समझती। जो काम आप लोगों ने किया है, मैं तो उसके सामने कुछ भी नहीं हूं। यह आपका बड़प्पन है

और मैं आपको साफ कह देना चाहती हूं कि मैं इससे बिल्कुल सहमत नहीं थी, मगर मेरे पास आप सबसे मिलने का और कोई तरीका भी नहीं था, तो मैं आ गई हूं और बहुत ही ट्यूमैनिटी के साथ यहां खड़ी हूं, उस दीदी के सामने-नूतन के सामने-थोड़ी-सी शर्म आ रही है। बूढ़ी हो गई हूं, 72 साल की हो गई हूं। जब तस्वीरें देखी 'आधी दुनिया' में तो लगा कि मैं उनसे मिली हूं। याद नहीं पड़ता कि हम कहां-कहां और कब-कब मिले थे। 'आधी दुनिया' में आप सब लोगों द्वारा लिखे लेख पढ़े। अभी जो भाई उनके बारे में किस्से सुनाए...कुछ भी गरीबों में बांट देना, हर मर्द की सिगरेट बुझा देना। यह सब मैं 'आधी दुनिया' में पढ़ती रही। और साफ जाहिर है कि वह कितनी बड़ी नारीवादी थी, कितनी बड़ी समाजवादी थी,कितनी जबरदस्त कार्यकर्ता थी। सिर्फ 52 वर्ष की उम्र में उनको कैंसर के कारण अपना शरीर त्यागना पड़ा। कितना कुछ करना था उनको। ऐसे लोग जो जल्दी चले जाते हैं, हम सब के लिए काम छोड़ जाते हैं और मुझे खुशी है कि आप सब जो साथी हैं, कुछ उनसे बुजुर्ग और कुछ उनसे छोटे, उन्हें इस तरह से याद करते हैं! बहुत खूबसूरत चीज है कि आप लोग एक नारीवादी, एक समाजवादी, एक क्रांतिकारी, एक देशभक्त महिला के लिए यह कर रहे हैं। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक मुद्दों पर नूतन की बहुत पैनी समझ थी। बहुत तेज समझ थी उनकी। वैकल्पिक समाज व्यवस्था कैसी हो, उस पर भी बहन ने बहुत सोचा और जो बात मुझको उनकी छू गयी और जिसको मैं भी मानती हूं कि हमें सिर्फ व्यवस्था नहीं बदलनी है,व्यक्ति को भी बदलना है। और, व्यवस्था भी तब तक नहीं बदल सकती जब तक व्यक्ति को ना बदलें। उनका पूरा जोर इस पर था कि व्यक्ति बदले, हम बदलें, आप बदलें, तभी व्यवस्था बदलेगी। और मेरे ख्याल से भी यह बहुत जरूरी है, क्योंकि व्यवस्थाएं हमने बहुत बदल दीं, इमरजेंसी को हमने बदल दिया, इंदिरा गांधी को हमने हरा दिया, मगर जो नये आये वे पुराने व्यक्तियों से कुछ अलग नजर नहीं आए। जो बहुत अच्छी-अच्छी बातें करने आये थे, करप्शन के खून की लत उनको भी एक बार लग गई तो छूटी नहीं। कुछ जेलों में पड़े हैं, कुछ बदनाम होकर पड़े हैं। व्यक्ति को बदलना, व्यवस्था को बदलना, अंदर को बदलना, बाहर को बदलना, यह जो बात नूतन ने कही, मेरे ख्याल से आज बहुत ज्यादा जरूरी है। नैतिक मूल्यों की बात नूतन ने की थी। छात्र युवा संघर्ष वाहिनी के तमाम मूल्य, तमाम समझ, विकल्पों की उनकी पूरी की पूरी योजना शायद नूतन ने बनाई भी

और उससे सीखा भी। 1978 में 40 साल पहले नूतन ने राष्ट्रीय स्तर का एक जबरदस्त महिला मंच तैयार करने की कोशिश की। एक सम्मेलन का आयोजन किया। क्योंकि वह मानती थी कि महिलाओं की भागीदारी के बिना समाज आगे नहीं बढ़ सकता। वह मानती थी कि कलेक्टिव लीडरशिप होना चाहिए। उन्होंने और उनके साथियों ने नारा दिया जो आज भी महिला आंदोलन में हम लगाते हैं - 'औरत के सहभाग बिना, हर बदलाव अधूरा है'।

दोस्तो, आज आप और अच्छा काम करते हैं। वह है एक कर्मठ महिला को, एक नारीवादी महिला को सम्मानित करने का। अभी हमारे भाई ने बताया प्रभावती सम्मान किस-किस को मिल चुका है। आज हम यह सम्मान प्रोफेसर मालंच घोष को दे रहे हैं, जो हमारे बीच में हैं। दो साल बड़ी हैं मुझसे और पूरी उम्र पढ़ाने का काम, समाज को बदलने का काम, महिला सशक्तीकरण का काम करती रही हैं। दोस्तो, मैं मानती हूं कि आज बहुत जरूरी है कि हम इस तरह की महिलाओं और पुरुषों को सम्मानित करें, उनके बारे में दुनिया को बताएं, क्योंकि आज के माहौल में ह्यूमन राईट एक्टिविस्ट, राइट टू इनफार्मेशन एक्टिविस्ट को सम्मानित नहीं किया जा रहा है। उन्हें जेलों में घुसाया जा रहा है, उनके ऊपर केसेस चलाए जा रहे हैं ताकि वे कुछ काम कर ही ना पाएं। हमारे बहुत सारे दोस्त हैं, जिनके ऊपर केस है, जो लड़ रहे हैं और पिछले महीने ऐसे ही छह व्यक्तियों को, जो बहुत ही सम्मानित व्यक्ति हैं, उनको जेल में ले जा रहे थे। वह तो कोर्ट ने उनको बचा दिया और उनके घरों को जेल बना दिया।

नूतन का एक सपना था संघर्ष वाहिनी के साथियों को इकट्ठा लाना। मुझे लगता है कि आज उस सपने को साकार करने की बहुत जरूरत है। अगर 1976 में प्रजातंत्र खतरे में था, देश का संविधान खतरे में था, तो मैं मानती हूं कि शायद आज देश उससे ज्यादा खतरे में है, संविधान भी खतरे में है, प्रजातंत्र भी है। और आज आप जैसे साथियों को इकट्ठा करना, जवान लोगों को मिलवाना, उनको इन मूल्यों को देना, क्योंकि आज जो नॉन गवर्नमेंटल आर्गेनाइजेशन (एन.जी.ओ.) हैं भी हम लोगों के, बिना मूल्यों के काम करते नजर आते हैं। आज बड़ी-बड़ी मीटिंग्स चार सितारा पांच सितारा होटलों में होती है। बात गरीबों की होती है पांच सितारा होटल में और किसी को शर्म भी नहीं आती। इतनी अच्छी-अच्छी संस्थाएं हैं यहां, क्या मीटिंग यहां नहीं हो सकती? अब हम लोगों को यह तय करना है कहां मीटिंग करनी है, किस

मीटिंग में जाएंगे, कहां मना करेंगे। अगर किसी होटल में मीटिंग करोगे तो मैं वहां नहीं जाने वाली हूं। सिर्फ क्रिटिसाइज करने से तो कुछ नहीं होगा, हम भी वहां जाकर बैठ जाते हैं। पांच सौ का लंच खाकर हम उन लोगों की बात करते हैं जिनको रोज एक सौ रुपया भी नहीं मिलता है! तो मुझे लगता है इन सब को बदलने की जरूरत है। इसलिए यहां आई हूं कि आप से कुछ ऊर्जा लेकर जाऊं और वाकई शुक्रगुजार हूं कि आपने मुझे मौका दिया।

## एलपीजी : लिबरलाइजेशन, प्राइवेटाइजेशन, ग्लोबलाइजेशन

मुझे कहने को कहा गया है कि मैं इस विषय पर बोलूं - 'विकास की अंधी दौड़ और महिलाओं पर बढ़ती हिंसा'। तो कहां है विकास? क्या जो आज हो रहा है उसको हम विकास कहते हैं कि नहीं कहते हैं? वैसे, हम जैसे बहुत से लोग हैं,जो इसे विकास नहीं कहेंगे। जो आज हो रहा है, हम से पहले भी बहुत से लोगों ने, चाहे वह गांधीजी हों, चाहे वह सुंदरलाल बहुगुणाजी हों, चाहे मेधा पाटकर हों, चाहे वंदना शिवा हों, इस चीज को समझ कर समझाने की कोशिश की कि आज जिसे विकास का नाम दिया जा रहा है, यह अधिकांश लोगों के लिए विकास नहीं, विनाश है। मैं तो इसे कहूंगी विनाश की अंधी दौड़। दोस्तो! इसे मैं विकास की अंधी दौड़ कहने को तैयार नहीं हूं। दो-चार उदाहरण देती हूं। पर मुझे लगता है दिल्ली से कोई आये और इसके बारे में बोले - बिल्कुल उल्टे बांस बरेली को! हमने तो इस विनाश के बारे में जो जाना है, आप लोगों से जाना है, झारखंड से जाना है कि यह विनाश क्या कर रहा है आदिवासियों के लिए, दलितों के लिए, गरीबों के लिए। अब जो यह विकास नाम की बड़ी चीज है इसको अंग्रेजी में हम कहते हैं - एलपीजी (लिबरलाइजेशन, प्राइवेटाइजेशन एंड ग्लोबलाइजेशन)। उदारवादी नीतियां! सरकार का नियंत्रण खत्म कर दो, सब कुछ प्राइवेट सेक्टर के हाथों में दे दो, झारखंड की सारी जल, जंगल, जमीन। तो दोस्तो, जल, जंगल, जमीन जो आदिवासियों की थी, अब वह कारपोरेट की हो गई। उनके घर थे जो जंगलों में वे अब उनके रहे नहीं। यह कब हुआ, कैसे हुआ, किसी को नहीं मालूम।किसी को पता नहीं होता, 'एमओयू' (मेमोरेंडम ऑफ अंडरस्टैंडिंग) साइन हो जाता है। कानून में कहा गया कि पूछेंगे आदिवासियों से, लेकिन कोई नहीं पूछता। तो इस तरह का विनाश हो रहा है। यहां की अरबों-खरबों खनिजों की खानों का पैसा है। वह उनका है जो इन खानों के ऊपर हजारों सालों से रह रहे हैं। आज भूखे नंगे हैं और बाहर से कोई

आदमी आकर अरबों-खरबों निकालकर ले जाता है। मैं जब छोटी थी, बचपन में तीन ऐसे प्रोफेशन थे जिनको नोबल प्रोफेशन कहा जाता था - शिक्षक, डॉक्टर और वकील। लेकिन आज इनसे ज्यादा बूचड़खाना चलाने वाले और कोई नहीं हैं। शिक्षक, डॉक्टर और वकील के चक्कर में पड़े तो मरे। अगर शिक्षक खुद मुनाफाखोर हो जाए, तो हर छात्र-छात्रा मुनाफाखोर ही बनेगा/बनेगी। काफी हद तक वही हो रहा है आज। हमारे स्कूल, हमारे कॉलेज, हमारे यूनिवर्सिटीज मेरे हिसाब से शिक्षा के मंदिर नहीं हैं, वे तो फैक्ट्रियां हैं। सर्टिफिकेट्स बंटते हैं वहां। अगर मैं 20-25 लाख रुपया देकर डॉक्टर बनती हूं तो कोशिश होगी कि 3 साल में कम से कम 25 लाख तो निकाल लूं और वह कैसे निकालना है, आप सब तो अस्पताल गए हैं, प्राइवेट हॉस्पिटल में आप सब जानते हैं कि वे पैसा कैसे निकलवाते हैं।

## एक फीसद को 73 प्रतिशत : पचास फीसद को 1 प्रतिशत

विनाश की इन नीतियों से कुछ लोगों के ही अच्छे दिन आए हैं। ऑक्सफैम ने पिछले साल एक स्टडी की। ऑक्सफैम ने यह देखा कि देश के 1 फीसद लोगों को 73% प्रॉफिट मिला। पिछले साल 1 फीसद लोग 73% धन पर बैठे और हमारे देश के 50 फीसदी गरीबों को 1% मिला। 1 फीसद को 73%, 50 फीसद को 1%! यह उस देश का हाल है जहां गांधी हुए, जहां विनोबा हुए, जहां जयप्रकाश नारायण हुए, जहां नूतन हुईं। यहां का यह हाल है। यह जो गैरबराबरी अमीरों और गरीबों के बीच में हो रही है, अमीर देशों और गरीब देशों के बीच में हो रही है, इसका नुकसान पुरुषों को भी होता है। मैं मानती हूं इस विनाशकारी व्यवस्था का असर पुरुषों पर भी होता है। क्या आदिवासी पुरुष पीड़ित नहीं है, क्या दलित पुरुष पीड़ित नहीं है, क्या किसान पुरुष जो लाखों की संख्या में हैं, मरते आ रहे हैं क्या वे पीड़ित नहीं हैं? मैं नहीं मानती कि पुरुषों पर इस विनाशकारी नीतियों का असर नहीं होता। फर्क यह है कि जब तक पुरुष को जुकाम लगता है, तब तक महिला को निमोनिया हो जाता है। फर्क है मात्रा का, फर्क है संख्या का, फर्क है डिग्री का। पतिदेव को जब तक जुकाम होगा, तब तक बीवी निमोनिया से मर जाएगी। पतिदेव को जब जुकाम होगा, पीड़ा होगी, शोषण होगा, नौकरी जाएगी तो इसका गुस्सा किस पर निकलेगा? हाथ किस पर उठेगा? औरत पर ही उठेगा। मैं यह बिलकुल नहीं कह रही कि इसका असर पुरुषों पर नहीं होगा। इसका असर पूरी तरह पुरुषों

पर, औरतों पर, दलितों पर, आदिवासियों पर, छोटे किसानों पर और जो सबसे नीचे हैं उनपर इसकी मार पड़ती है! वह मार भी भयानक होती है।

## प्रकृति मां पर विकास की मार

एक मार जो प्रकृति मां पर पड़ती हो, बहुत बुरी तरह पड़ती है। मगर वह बदला लेगी, वह छोड़ेगी नहीं, हमें वह खत्म करके जाएगी! विकास की जो सबसे बड़ी मार है वह प्रकृति मां के ऊपर है। दिल्ली में अमीर कॉलोनियों में कोई घर ऐसा नहीं है दोस्तो, जहां एयर प्यूरीफायर न हो; वाटर प्यूरीफायर तो 20 साल पहले आ गया था। पिछले 2 साल से हर घर में 20-25 हजार का एक एयर प्यूरीफायर लगा है, जिसके वो जो फिल्टर लगाते हैं, वह हजारों रुपए के हैं। इस बात की तो खुशी लगती है कि जो अमीर इस देश का सत्यानाश कर रहे हैं, उनके बच्चे भी सांस नहीं ले पा रहे हैं। बड़ी-बड़ी गाड़ियों में वे चल रहे हैं दिल्ली में। प्रकृति मां तो सब खत्म करके जाएगी। कल रात टेलीविजन पर समाचार आ रहा था कि दुनिया में पर्यावरण का अगले 10-15 साल में दो-तीन डिग्री तापमान बढ़ेगा। और उससे पाकिस्तान, बांग्लादेश, इंडिया, मालदीव आदि पर क्या असर होगा! लाखों-करोड़ों जीव इस धरती पर रहते हैं, मगर यह इंसान नामी जीव ने इस धरती का सत्यानाश कर दिया।

दोस्तो, मैं बहुत सालों से एक बात दोहरा रही हूं औरों से सीख कर। कुछ भी नया नहीं कह रही हूं क्योंकि नया कहने को कुछ नहीं है, उस पर जीने की बात है। हम क्या सोचते हैं, क्या करते हैं, क्या मानते हैं इससे ज्यादा मतलब उसका है कि हम क्या करते हैं? मैं अपने बारे में कह सकती हूं कि मेरा विचार, मेरी सोच, मेरे करने से बहुत दूर है, बहुत दूर और यह दूरी तब जाएगी जब हम एक-दूसरे पर दबाव डालेंगे। जब तुम मेरी करनी पर थूकोगे। बोलोगे नहीं कि कमला, तुम बात तो यह करती हो, लेकिन काम करती हो कुछ और तो मुझपर दबाव कैसे पड़ेगा? अगर चारों तरफ मेरे ऐसे लोग ही होंगे तो कैसे होगा?

मैंने बहुत बहनों से कहा है कि आज जो लड़ाई है यह दो 'पी' के बारे में हैं। एक 'पी' फॉर पीपल, दूसरा 'पी' फॉर प्रॉफिट यानी मुनाफा। आज की दुनिया की जो लड़ाई है वह मुनाफा के लिये है और जनता के बीच है। और आप जानते हैं कि कौन जीत रहा है? जीत रहा है मुनाफा, बहुत बड़े रन से जीत रहा है, पूरी की पूरी इनिंग से जीत रहा है। बीस-बीस, तीस-तीस बोरों से मुनाफा जीत रहा है। इसके तीन-चार उदाहरण है। मोदी जी को क्या पता नहीं

कि कितने-कितने हजार करोड़ लेकर माल्या जैसे कितने लोग देश छोड़ गए? एक किसान जो पचास हजार का लोन लौटा नहीं पाता उसे जेल ले जाते हैं। और माल्या जैसा व्यक्ति पचास हजार करोड़ का लोन लेकर बढ़िया मकान में रह रहा है?

दोस्तो, यह लड़ाई है और इससे लड़ने की बात है। अब मैं अपने 'फेवरेट' विषय महिलाओं पर हिंसा पर आती हूं। मैं कुछ सालों से एक ही चीज को दोहरा रही हूं। पिछले पंद्रह-बीस सालों में पितृसत्ता और पूंजीवाद इन दोनों का गठबंधन हुआ है। आज 'पूंजीवादी पितृसत्ता', महिलाओं और मैं तो कहती हूं कि पुरुषों के साथ भी, जो कर रही है उसे समझने की जरूरत है। पूंजीवाद ने पितृसत्ता का खूबसूरत इस्तेमाल किया है। पितृसत्ता में कन्यादान होता था, शादियां थीं, दहेज लिये-दिये थे। पूंजीवाद उसके अंदर घुस गया। एक शादी जो एक लाख में होती थी, आज वह कई करोड़ में होती है। कल जो एक साड़ी पांच हजार में मिलती थी, आज वह साड़ी पांच-पांच लाख की हो गई है। दिल्ली में आप आकर के देखिए, जो घर बनाये गये हैं शादी के लिए, जो महल बनाए हैं शादी करने के लिए, लगेगा कि लॉस वैगास शहर हो। लॉ स वैगास शहर बहुत ही बेहूदा शहर है अमेरिका का। उसी तरह की चमक है, काला धन है दिल्ली के 'वेडिंग पैलेसेस में। दिल्ली में बंगाली लोग देवी पूजा के लिए 5-5,10-10, 20-20 रुपये इकट्ठे करते थे और पंडाल बनाते थे, दोस्ती बनाते थे। पिछले 20 साल से एक पंडाल पेप्सी कोला स्पॉन्सर करता है, तो दूसरा कोकोकोला स्पॉन्सर करता है। तो दोस्तो, वह दोस्ती, वह मोहब्बत पेप्सी कोला में डूब गई, खत्म हो गई।

मैं पांच-छः उदाहरण देती हूं कि पितृसत्तात्मक पूंजीवाद महिलाओं और पुरुषों के साथ क्या कर रहा है? और दोस्तो अगर महिला के साथ हो रहा है, तो यह मत भूलिए कि यह पुरुष के साथ भी हो रहा है। नंबर एक, आज पोर्नोग्राफी बिलियन डॉलर का इंडस्ट्री है। आज सब के पास मोबाइल फोन हो गए हैं, आज सबकी पहुंच पोर्नोग्राफी तक हो गयी है। आज 12 से 18 वर्ष के उम्र के 70 से 80 प्रतिशत लड़के इनको देखते हैं और लड़कियां भी। चाइल्ड पोर्नोग्राफी, जिसमें छोटी लड़कियों के जिस्म का, यौन का इस्तेमाल होता है, एक बिलियन डॉलर की इंडस्ट्री है, जो हमारे लड़कों को, पुरुषों को उकसाती है। और उसका 'असर'? हमलोगों का भी कहना है कि जो 5-5, 6- 6 महीने

की लड़कियों का बलात्कार हो रहा है, जो बड़ी लड़कियों का बलात्कार हो रहा है, वह शायद इसी से प्रेरित हो रहा है जो पूंजीवाद हमारे जेब में मोबाइल के रूप में भेज रहा है।

नंबर दो, खिलौने के इंडस्ट्री। ये इंडस्ट्री लड़कों के लिए बंदूके बना रहे हैं। छोटे-छोटे लड़के बंदूक लेकर एक-दूसरे को मारते फिरते हैं। लड़कों के लिए सुपरमैन, स्पाइडरमैन, फ़लाना मैन! और लड़कियों के लिए क्या? बार्बी डॉल। बार्बी डॉल बताती है कि मेरा वक्ष कितना बड़ा होना चाहिए, मेरी कमर कितनी छोटी हो, मेरे हिप्स कितने बड़े हों? जिस्म के अलावा कुछ नहीं। मुझे सिर्फ उस जिस्म को सम्हालना है। कहीं पर आधे कपड़े पहन कर, लिपस्टिक लगाकर, चेहरे को झूठा बनाकर, बालों को काला करके, कहीं पर अगर ब्रेस्ट नीचे गिर रही है तो उसकी सर्जरी करवाकर। बिलियन डॉलर की इंडस्ट्री है कॉस्मेटिक्स। क्या कह रही है वह कॉस्मेटिक इंडस्ट्री कि औरत तो सिर्फ जिस्म है, अगर तुम्हारा जिस्म खूबसूरत नहीं है तो कुछ नहीं है। और खूबसूरती कौन डिसाइड करेगा? ऐश्वर्या राय करेंगी। मैं कमला भसीन हूं, मेरी खूबसूरती ऐश्वर्या राय कैसे डिसाइड करेंगी? मैं उसकी खूबसूरती क्यों नहीं डिफाइन करूंगी? मैं उसके चरित्र की खूबसूरती क्यों नहीं परखूंगी? लेकिन इसका असर पड़ रहा है। आज आप हर कॉलेज की लड़की को देख लो, दिख जाएगा दूर से कि उसके दिल में, दिमाग में कौन घुसा हुआ है? 80-90 प्रतिशत लड़कियां तो ऐश्वर्या राय की शक्ल लेकर पैदा नहीं होतीं। तो क्या होता है असर? अस्सी-नब्बे प्रतिशत लड़कियां दुखी रहती हैं, क्योंकि कैटरीना कैफ नहीं है! उनके शरीर की तुलना, उनके दिमाग की तुलना, चरित्र की तुलना, उनकी ईमानदारी की तुलना नहीं होती।

पुरुषों पर असर है कि लड़की सुंदर नहीं है। लड़की काली है, तो वह 'फेयर एंड लवली' लगाना शुरू कर देती है। एक लड़का जो कल तक उसको पसंद नहीं करता था, आज वह बेवकूफ उसके पीछे भागने लग गया! यह लड़कों का हाल है। लड़का सिर्फ हमारी खाल से प्यार कर रहा है, हमसे नहीं। तो यह हाल बना रखा है कॉस्मेटिक इंडस्ट्री ने।

तीसरा है मीडिया। जो एडवर्टिजमेंट हैं हिंदोस्तान में। शराब और व्हिस्की के ये इल्लीगल हैं। लेकिन आप टीवी पर देख सकते हैं कि ऐसे एडवर्टिजमेन्ट किए जाते हैं अलग तरह से। एक एडवर्टिजमेन्ट बहुत मशहूर है कि यह 'नंबर

वन यारी' है। छः मर्द एक तालाब में व्हिस्की पी रहे हैं और उनकी नंबर वन यारी है व्हिस्की से, और एडवर्टिजमेंट में उस व्हिस्की का सोडा कहां जा रहा है? हमारे बड़े-बड़े करोड़पति एक्टर इस तरह के एडवर्टिजमेन्ट कर रहे हैं।

'लिव इट लार्ज' एक और विज्ञापन है कि जिंदगी बड़ी करके जियो। बड़ी करके जिओ का मतलब यह नहीं है कि जेपी आंदोलन जॉइन कर लो, बड़ी होने का मतलब नहीं है कि भ्रष्टाचार के खिलाफ खड़े हो, इसका मतलब यह नहीं कि आर. टी.आई. लागू करवाओ। इसका मतलब है अपने 'मर्द' दोस्तों के साथ व्हिस्की पियो और 'औरतों' के साथ भी व्यभिचार करो।

## जो स्त्री विरोधी, पुरुष विरोधी भी

जो स्त्री विरोधी है, वह पुरुष विरोधी भी है। जो चीज पुरुष को हिंसक बनाती है, उसे व्याभिचारी बनाती है, शराबी बनाती है, दंबग बनाती है, बदतमीज बनाती है, मेरे ख्याल से वह पुरुष विरोधी है। एक फिल्म आयी 'दंबग' जिसका एक गाना ''मैं तंदूरी मुर्गी हूं, गटका ले मुझे अल्कोहॉल से।'' एक औरत यह गाना गा रही है। ये तमाम गाने मर्दों ने लिखे हैं। यहां पुरुष का चित्रण है कि पुरुष औरतों के जिस्म को नोचते-खसोटते हैं और विहस्की पीकर उसको गटक लेते हैं। यह है पुरुष का चित्रण। और, अगर यह नहीं है तो आप नाराज क्यों नहीं होते, चिल्लाते क्यों नहीं हैं? आप उसके खिलाफ बोलते क्यों नहीं है कि मैं ऐसा नहीं हूं?

मैं मानती हूं कि सभी पुरुष ऐसे नहीं हैं, पर कुछ ऐसे हैं जो गाना बजाते हैं एवं नाचते हैं। ''लौंडिया पटायेंगे मिस कॉल से!'' पंजाब में बेटियों और बेटों के शादी में यह गाना खूब बजा। मर्द क्या करेंगे? पहले हिंदुस्तान की हर लड़की को लौंडिया बनायेंगे। आपकी बेटियां अभी लौंडिया हैं? लौंडिया का मतलब सेक्स वर्कर। आप पुरुष महिला से दोस्ती नहीं करोगे, उसे पटाओगे, उसे उल्लू बनाओगे? क्या ऐसी जिन्दगी आप पुरुषों गुजारेगें? आप ऐसे हो क्या? पर इस फिल्म को फिल्म इंडस्ट्री में 100 करोड़ का बिजनेस मिला, तो आप बताइए कि मैं किससे नाराज होऊं? उस फिल्म बनाने वाले से नाराज होऊं या उस फिल्म में एक्टिंग करनेवाले से नाराज होऊं या आपसे नाराज होऊं या खुद से नाराज होऊं? तो दोस्तों इन चीजों पर सोचने की जरूरत है कि कैसे मीडिया ने इस बदतमीजी को बढ़ावा दिया है। इसे सम्मानजनक भी बना रहा है। 2 से 3 प्रतिशत फिल्में जरूर अच्छी बनती है। लेकिन मैं मानती हूं, 80 से 90 प्रतिशत फिल्में ऐसे

बनती हैं हालीवुड एवं बालीवुड में जो स्त्री विरोधी हैं। और, मैं कहती हूँ कि वे पुरुष विरोधी भी हैं।

फिल्म में गाना है - बदतमीज दिल माने ना माने ना। मैं कहती हूँ, भैया इसे जेल में ले जाओ, बदतमीज दिल जरूर मानेगा। आप इन फिल्मों को सौ करोड़ का बिजनेस देकर इसे विकास कहते हैं? इसका असर है - हिंसा। औरतों पर हिंसा केवल शारीरिक नहीं होती, यौनिक नहीं होती, मानसिक होती है, भावनात्मक होती है। आर्थिक होती है। आज के एल. पी. जी. युग में पिछले 15 सालों में महिलाओं के कमाऊ काम में भागीदारी, घरेलू काम में नहीं, पहले 37 प्रतिशत थी, आज 25 प्रतिशत रह गई। देखने से तो ऐसे लगता है औरते बसों में जा रही हैं, ट्रेनों में जा रही हैं, जहाजों में जा रही हैं। ऐसा लगता है कि जैसे औरतें हर क्षेत्र में आगे आ जा रही हैं। हर क्षेत्र में औरतें आई हैं, पर उनकी तादाद 37 से घटकर 27 प्रतिशत हो गई है। क्योंकि काम ही नहीं है। रोजगार सारे छिन रहे हैं। दीवाली के दीये चीन से बनकर आ रहे हैं। गणेश जी की मूर्ति चीन से बनकर आ रही है। आपकी बनारसी साड़ी चीन से बनकर आ रही है, पर नाम है बनारसी। कहाँ गये हमारे लोहार, कुम्हार, चमार, तांती? कहां गया उनका बिजनेस? उसे हमारी फैक्ट्री खा गयी या चीनी फैक्ट्री खा गई। हम आज भूखे बैठे हैं। दिल्ली में जब मैं निकलती हूं तब देखती हूं चौक-चौराहों पर 100-200 पुरुष बैठे हैं अपना श्रम बेचने के लिए। इस आस में कि तुम्हें यदि घर में गड्ढा खुदवाना है, तो ले चलो और मुझे 100-150 रुपये दे दो। आप हर मुहल्ले में चले जाओ, आपको ऐसी ही स्थिति मिलेगी। ऐसे ही 100-150 लोग श्रम बेचने बैठे हुए मिलेंगे। कौन हैं ये लोग, शायद लोहार रहे होंगे, शायद कुम्हार रहे होंगे, शायद मोची रहे होंगे। इनका काम शायद दूसरों ने ले लिया होगा।

अगर पुरुष बेरोजगार होगा, तो इसकी मार औरत पर पड़ेगी। घर की औरत पर भी और सड़क की औरत पर भी। तो यह साफ जाहिर है कि इस तरह के विनाश का असर कमजोरों पर पड़ता है और सब कमजोरों में सबसे कमजोर औरत है। आदिवासियों में वह ज्यादा कमजोर है। दलितों में औरत ज्यादा दलित है। गरीबों में वह ज्यादा गरीब है। अंतिम सच यह भी है कि महिलाएं सहती हैं। अगर घर में खाना नहीं है तो लड़कों को, पुरुषों को मिल जायेगा। लड़की बच्ची को बाद में मिलेगा। बीवी के लिए बचा है या नहीं इसे कौन पूछेगा? पति पूछेंगे

नहीं क्योंकि वे पति हैं, मालिक हैं। मेरा कहना यह है कि पितृसत्ता, जातिवाद, पूंजीवाद, नस्लवाद यह सब एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। हम स्त्री-पुरुष समानता की बात अकेले में नहीं कर सकते। हमें इन तमाम वादों पर, तमाम 'हायरारकी' सोपानक्रम पर, तमाम ऊंच-नीच वाली व्यवस्था पर मिलकर हमला करना होगा। इनको हटाना होगा। हमें जातिवाद पर लड़ना है, अमीर-गरीब वाली बात पर भी लड़ना है। आदिवासियों के हकों के लिए लड़ना है। अब तो अल्पसंख्यकों के हकों के लिए भी। यह बड़ी चिन्ता का विषय है और पूरी दुनिया को मालूम है कि ये सब चीजें हो रही हैं। हमें मिलकर लड़ना है। महिला हिंसा को खत्म करने के लिए पुरुषों पर अधिक जिम्मेदारी है। आज हमारे सामने बड़ा सवाल यह है कि हिंसा करता कौन है? बलात्कार करता कौन है? मेरे लिए आप कह सकते हो कि तुम बाहर घूमती क्यों हो? छोटे कपड़े क्यों पहनती हो? बलात्कार तो होना ही था। पर उस छह महीने की बच्ची ने क्या पहना हुआ था?

## हिंसा जन्मजात चीज नहीं

यह समाज पुरुषों को हिंसक बना रहा है। पुरुष हिंसक पैदा नहीं होता। हिंसा कोई बायोलॉजिकल चीज नहीं है, कोई जन्मजात चीज नहीं है। हिंसा बाकायदा पितृसत्ता के अंदर पुरुषों को सिखाया जाता है। उसके जिम्मेदार कौन हैं? आप और मैं। हम परिवारवाले इसके लिए जिम्मेदार हैं। आज हमारी बेटियां जिस प्रकार बड़ी हो रही हैं, वे पति को परमेश्वर नहीं कह सकती, मालिक नहीं कह सकतीं। हमारा संविधान कहता है बेटियों का कोई मालिक नहीं हो सकता। पिता भी बेटी का कन्यादान नहीं कर सकता, कन्यादान भारतीय संविधान के खिलाफ है। दान होता है निर्जीव चीजों का ! हमारी बेटियां निर्जीव चीज नहीं हैं, हमारे घरों से कन्यादान जैसी बेहूदा चीजें निकालनी पड़ेंगी। हमारे घरों से मांगों में लगाने वाले सिन्दूर जो औरतों को बताते हैं कि तुम शादी-शुदा हो कि नहीं। अगर शादीशुदा का यह हाल है तो विधवा का तो बैंड बजेगा ही बजेगा! क्योंकि वह तो अब शादीशुदा नहीं रही। पुरुष के सिर पर क्यों नहीं है सिन्दूर? हमें क्यों पता नहीं लगता कि वह शादी-शुदा है, एक बीवी वाला है या दो बीवी वाला है या विधुर है? उसका पता लगना क्यों नहीं जरूरी है?

तो यह जो दोगलापन है वह भारतीय संविधान के खिलाफ है। आज जब मैं नारीवाद की बात करती हूँ तो भारतीय संविधान की रक्षा की बात करती हूँ

और उसकी रक्षा के लिए मैं जगह-जगह जाकर बोलने की कोशिश करती हूँ। तो दोस्तो, आज मैं पुरुषों को दावत दे रही हूँ कि आप पितृसत्ता के खिलाफ जंग में आगे आयें, क्योंकि यह आपकी जंग ज्यादा है, क्योंकि हिंसा आप करते हैं। 95 प्रतिशत हिंसा आप करते हैं, 5 प्रतिशत हिंसा हम औरतें भी एक दूसरे पर करती हैं। पितृसत्तात्मक हम औरतें भी हैं। यह हम सब जानते हैं, लेकिन पितृसत्ता हमने बनाई नहीं है, धर्मों में हमारी कोई पहुंच नहीं है, हमने कोई धार्मिक ग्रंथ नहीं बनाया है जो कहता है कि मंदिर में औरत जा नहीं सकती, क्योंकि उसे माहवारी होती है, माहवारी बहुत गंदी चीज है। सचमुच! तो ऐसा करो न कि एक इन्सान ले आओ मेरे पास, जो हमारी माहवारी के बगैर पैदा हुआ हो। कोई भी माहवारी के बिना पैदा हो ही नहीं सकता। यह पंडित, ये मौलवी, ये चर्च चलाने पुरुष किसी एक को भी ले आओ, जो माहवारी के बगैर पैदा हुआ हो। जिस माहवारी के बिना कोई पैदा नहीं हो सकता उस माहवारी को गंदा बताना एवं औरत को प्रताड़ित करना, अब नहीं चलेगा। हमें खुशी है कि हमारे संविधान बनाने वालों ने तो कम से कम संविधान तो ठीक से बनाया। हमें खुशी है कि संयुक्त राष्ट्र की मानवाधिकार की घोषणा कहती है स्त्री, पुरुष, दलित, आदिवासी, गैर आदिवासी सब बराबर हैं।

आप सबका बहुत-बहुत शुक्रिया कि आपने मुझे बुलाया और इज्जत बख्शी। एक बार फिर आप सबों को धन्यवाद। ■

# परिचय

**प्रो. भारती एस. कुमार**

प्रो. भारती एस. कुमार पटना विश्वविद्यालय में इतिहास संकाय की वरिष्ठ शिक्षक रही हैं। 42 वर्षों के अध्यापन का अनुभव रखने वाली प्रो. भारती ने 1971 में पटना वीमेंस कॉलेज में पढ़ाना शुरु किया था। 18 वर्षों तक कॉलेज की सेवा करने के बाद उन्हें 1989 में पटना विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर विभाग में स्थानांतरित कर दिया गया। उन्होंने 23 वर्षों तक विश्वविद्यालय की सेवा की। इतिहास विभाग की पूर्व प्रमुख और सामाजिक विज्ञान संकाय की डीन प्रो. भारती विश्वविद्यालय सिंडिकेट की पहली निर्वाचित सदस्य भी थीं।

**प्रो. रितु प्रिया**

प्रो. रितु प्रिया सामुदायिक स्वास्थ्य में डॉक्टरेट हैं। वे 1990 से जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के सामाजिक चिकित्सा और सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्र में प्रोफेसर हैं। उनका काम महामारी विज्ञान, लोकप्रिय संस्कृति, राजनीतिक अर्थव्यवस्था, पारिस्थितिकी और पर्यावरणीय आयाम और स्वास्थ्य प्रणालियों के विश्लेषण तथा स्वास्थ्य संस्कृति की समझ विकसित करने से जुड़ा है। प्रवासी श्रमिक, शहरी गरीब और दलितों और अन्य हाशिए के समूहों की स्वास्थ्य धारणाएं, शहरी स्वास्थ्य एवं पोषण संबंधी शोध-अध्ययन में सतत कार्यरत हैं। वे राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन के तहत राष्ट्रीय स्वास्थ्य प्रणाली संसाधन केंद्र में सलाहकार (सार्वजनिक स्वास्थ्य योजना) रही हैं और तीन दशकों से देश में लोगों के स्वास्थ्य आंदोलन में सक्रिय रूप से शामिल हैं।

**प्रो. इलिना सेन**

प्रो. इलीना सेन तीन दशकों से अधिक समय से महिलाओं और अन्य मानवाधिकारों पर आधारित आंदोलनों में सक्रिय हैं। शिलांग, कोलकाता और जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में शिक्षित इलीना सेन ने अपने शोध, लेखन और सामाजिक कार्यों में महिलाओं की राजनीति और आजीविका के मुद्दों पर ध्यान केंद्रित किया है। उन्होंने सतत विकास, कृषि-जैव विविधता और शांति के मुद्दों पर भी निरंतर लेखन किया है।

वे महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा और टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, मुंबई में महिला विषयक अध्ययन की प्रोफेसर रही हैं। उनके प्रमुख प्रकाशनों में 'स्ट्रगल' (1990) और 'सुखवासिन : द माइग्रेंट वुमन ऑफ़ छत्तीसगढ़' (1995) शामिल हैं।

**कमला भसीन**

कमला भसीन एक नारीवादी कार्यकर्ता, कवयित्री, लेखिका तथा सामाजिक विज्ञानी हैं। भसीन का काम जेन्डर, शिक्षा, मानवीय विकास और मीडिया पर केन्द्रित है। वे नई दिल्ली में रहती हैं और 'संगत', जो कि 'साउथ एशियन फेमिनिस्ट नेटवर्क' का हिस्सा है, से जुड़ी हैं और अपनी कविता 'क्योंकि मैं लड़की हुँ मुझे पढ़ना है' के लिए मशहूर हैं। ग्रामीण और शहरी ग़रीबों को सशक्त करने के लिए उनकी गतिविधियों की शुरुआत 1972 में राजस्थान में एक स्वैछिक संगठन के जरिये हुई। बाद में वे 'युनाइटेड नेशंस फूड एंड एग्रीकल्चरल ऑर्गनाइज़ेशन' (युएनएफ़एओ) के एनजीओ दक्षिण एशिया प्रोग्राम से जुड़ीं, जहाँ उन्होंने 27 साल तक काम किया।

# साथी नूतन

( 15 सितंबर, 1957 - 2 मई, 2012 )